।। वास्तुशास्त्रं न लंघयेत् ।।

वत्थु-विज्जा

जैन वास्तु-विद्या

आशीर्वचन

संहितासूरि पं० नाथूलाल जी जैन, इन्दौर (म०प्र०)

लेखक

डॉ० गोपीलाल 'अमर'

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110003

सम्पादन एवं प्रस्तावना—लेखन

डॉ० सुदीप जैन

जैनदर्शन विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली-110016

प्रकाशक

कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-110067

श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली का उन्नीसवाँ पुष्प

वत्थु-विज्जा *(जैन वास्तु–विद्या)*

प्रथम संस्करण : 2200 प्रतियाँ, अगस्त 1996

मूल्य : 25 रूपये

प्रकाशक : श्री कुन्दकुन्द भारती
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया
नई दिल्ली-110067
दूरभाष : 664510, 6513138 फैक्स (011) 6856286

लेज़र टाईपसैटिंग : प्रिंटैक्सेल, 6852255, 6966168

मुद्रण : जे.के. ऑफसेट प्रिंटर्स, चावडी बाजार, दिल्ली-110006

आवरण-सज्जा : प्रवीण उपाध्ये, नई दिल्ली

प्राप्तिस्थल : **कुन्दकुन्द भारती**, नई दिल्ली-110067

JAIN VASTU-VIDYA (VATTHU-VIJJA) : ***(Prose)***

Writer : Dr. Gopilal 'Amar'
Editing and Preface : Dr. Sudeep Jain
First Edition : 1996
Publisher Shri Kundkund Bharti, New Delhi-110067
Price : 25/-

समर्पण

'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' की
सारस्वत परम्परा
को
बीसवीं शताब्दी के
जैन नारी-जगत् में
पुनर्जीवित करनेवाली
एवं
जैन ज्ञान-विज्ञान को
जन-जन तक पहुँचाने
के लिये
उसके प्रकाशन-आयामों
को जिन्होंने
नयी परिभाषा दी
— ऐसी
'लक्ष्मी' एवं 'सरस्वती' के
विरल 'संगम'
की अनुपम मूर्ति
स्वर्गीया श्रीमती रमारानी जैन
(मातुश्री साहू श्री अशोक कुमार जी जैन)
की पुण्य-स्मृति में
कृतज्ञ श्रद्धासुमन-स्वरूप
समर्पित

—सुरेशचन्द जैन
प्रकाशक

'वास्तु-विद्या' का अनुक्रम

मंदिर की अवधारणा

मंदिर के विविध रूप

नगर-विन्यास

जीर्णोद्धार का विधान

प्रकाशकीय

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की पावन प्रेरणा से श्री कुन्दकुन्द भारती ने 'समयसार', 'बारस-अणुवेक्खा', 'संगीत समयसार' एवं 'तिरुक्कुरल' जैसे अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन किया; जिनको पाठको ने भरपूर आदर प्रदान किया। इसके फलस्वरूप इनमें से अनेकों ग्रन्थों के कई संस्करण भी प्रकाशित हुये। —यह हमें गौरव तथा हर्ष का विषय है।

सम्प्रति देशभर में 'वास्तुशास्त्र' या 'वास्तुविद्या' की चर्चा व्यापकरूप से चल रही है। अनेकविध ऊहापोह चल रहा है। ऐसे मे जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'वास्तुशास्त्र-सम्बन्धी' किसी प्रामाणिक रचना की माँग धर्मानुरागीजन प्रायः करते रहते थे, जिसको पढ़कर 'वास्तुशास्त्र' के सम्बन्ध में जैनदृष्टिकोण से परिचित हुआ जा सके तथा व्यावहारिक जीवन मे उसका समुचित उपयोग किया जा सके। साथ ही यह भी अपेक्षित था कि वह अति विस्तृत या गूढ़ भी न हो, कि सामान्यजन उसका अभिप्राय ही नहीं समझ सके; तथा जो जैनशास्त्रो की मर्यादा मे रहकर ही सम्पूर्ण तथ्यो का आधुनिक ढग से व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण करती हो।

धर्मानुरागी विद्वान् **डॉ० गोपीलाल 'अमर'** ने इस विषय मे पर्याप्त श्रमपूर्वक अनेक ग्रन्थो का आलोडन कर सप्रमाण इस पुस्तक का लेखन किया एव एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करने की दिशा मे सार्थक प्रयास किया है। तथा विद्वद्वरेण्य श्रद्धेय **पं० नाथूलाल जी शास्त्री**, सहितासूरि ने इसका अवलोकन कर इस 'जैन वास्तुविद्या' रूपी भवन पर 'आशीर्वचन' का मंगल-कलश स्थापित कर इसे मगलमय बनाया है। सेवाभावी विद्वान् **डॉ० सुदीप जैन** ने सूक्ष्मतापूर्वक प्रत्येक विषय का आधुनिक वैज्ञानिक ढग से सम्पादन करते हुये इस पर संक्षिप्त किन्तु विशद प्रस्तावना लिखकर इसके पुस्तकीय अगोपागो को परिपूर्णता प्रदान की है। इसप्रकार मुख्यतः इन तीनों विद्वानो के श्रम का सुफल बनकर 'जैन वास्तुविद्या' नामक यह कृति पाठको के हाथो मे प्रस्तुत करने का सौभाग्य कुन्दकुन्द भारती को मिल रहा है; अत इन तीनो विद्वानो का हृदय से आभार मानता हूँ। विशेषत. पंडित नाथूलाल जी शास्त्री का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होने वयोवृद्धावस्था मे भी अत्यन्त श्रम एव समर्पणपूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण करते हुये

इस कृति की प्रामाणिकता की पुष्टि की है तथा अनेको उपयोगी सुझावों से इसका गौरव बढ़ाया है।

साथ ही सुप्रसिद्ध अनुभवी वास्तुशास्त्रीद्वय—**पं० बाहुबलि जी उपाध्ये** एव **पं० जयकुमार जी उपाध्ये** ने इसका प्रायोगिक दृष्टि से भी तुलनाकर निरीक्षण किया है और इसकी व्यवाहारिक उपयोगिता प्रमाणित की है, अतः उक्त दोनों विद्वानों का भी हृदय से आभार मानता हूँ।

साथ ही निर्दोष लेज़र टाईपसैटिंग के लिए **प्रिंटैक्सेल**, नई दिल्ली एवं अल्पावधि में आकर्षण मुद्रण के **जे०के० ऑफसैट प्रिंटर्स**, दिल्ली धन्यवादार्ह है।

अन्य भी अनेको सहयोगीजनों का नैष्ठिक सहयोग इस कार्य में निमित्त बना है, उन सभी को भी धन्यवाद देता हूँ।

यह पुस्तक इस विषय की प्रवेशिका मात्र है, दिगम्बर जैन ग्रन्थों मे इस विषय मे अनेकत्र बहुत-सी सामग्री भरी हुई है। आशा है विशेषज्ञ विद्वान् एवं समर्पित अनुसन्धाताओं के लिये यह पुस्तक नवीन संभावनाओं के द्वार खोलेगी तथा उन्हे दिशा देने का अच्छा निमित्त बनेगी।

इस समस्त कार्य के निष्पादन में मूल निमित्तकारण पूज्य **आचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिराज** का मगल आशीष ही रहा है, अतः उनकी अत्यन्त विनयभाव से कृतज्ञतापूर्वक वन्दना करता हूँ।

सुप्रसिद्ध विदुषीरत्न स्वर्गीया श्रीमती रमारानी जैन ने 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी सारस्वत सस्था का निर्माणकर गौरवशाली एवं भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि साहित्य के प्रकाशन का पुण्यद्वार उद्घाटित किया; अतः उन्हीं की पुण्य-स्मृति मे यह कृति उन्हे समर्पित करता हूँ।

सुरेशचन्द जैन
मत्री
श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली

लेखकीय

देश को, बल्कि दुनिया को, अनेकता में एकता चाहिए। धर्म और राजनीति में समन्वय, नैतिकता और व्यवसाय में सगति, साहित्य और विज्ञान में सहयोग चाहिए। इक्कीसवीं शताब्दी का सर्जनात्मक स्वागत होना चाहिए। इन सभी 'चाहिए' की पूर्ति होगी सस्ते-सुंदर-सुदृढ़ मकानों से, स्थापत्य से, वास्तु से; मकान मनुष्य की मौलिक आवश्यकता है, स्थायी उपयोग की वस्तु है।

वस्तु का अर्थ है द्रव्य। द्रव्य सत् है। सत् वह है, जिसमें उत्पाद और व्यय की निरतर प्रक्रिया चलती रहती है। यह प्रक्रिया चराचर जगत् की प्रकृति है। प्रकृति वह कारण है, जिससे वास्तु का निर्माण होता है। इसलिए जो वास्तु प्रकृति के अनुकूल होती है, वह सस्ती-सुंदर-सुदृढ़ होती है।

वास्तु-विद्या निर्माण की विद्या है, ध्वस की नहीं। मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षी तक सुरक्षा और शाति चाहते है। बया पक्षी का घोंसला कला-कौशल का अद्भुत उदाहरण है, तो चूहे का शत-मुख बिल नीति-निपुणता का प्रतीक है। बया की कला और चूहे की नीति न तो प्रकृति के प्रतिकूल है और न किसी को कष्ट मे डालती हैं; बल्कि मनुष्य का मनोरंजन करती हैं और दूसरे प्राणियो को शरण देती है।

मदिर, मकान, कारखाना, कॉलोनी आदि का निर्माण बया और चूहा के सिद्धात पर हो, तो उससे सुख भी मिलेगा और सुविधा भी; जबकि उससे प्रकृति अक्षत रहेगी और किसी को कष्ट नही पहुँचेगा। इसीलिए वास्तु-विद्या के जो नियम और परपराएँ है, वे सात्त्विक विचारो और अहिसक आचार की सूचक हैं, उनके अनुपालन से मनुष्य प्रगति के शिखर पर पहुँचेगा। चितन की यह धारा प्रवाहित हुई है अष्टोत्तर-शत-लक्षण-विभूषित मध्यम-परमेष्ठी **आचार्यश्री विद्यानन्द जी** से, जिन्हें यह श्लोकाजलि समर्पित है "**वदनं प्रासाद-सदनं हृदयं सदयं सुधामुचो वाचः।**
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः।।"

यह पुस्तक इसी धारा का एक बिंदु है। इसके पठन-पाठन से दृष्टि

स्थिर होगी और ज्ञान में गभीरता आएगी, जिससे पंडितजी या प्रतिष्ठाचार्य का लाभ अधिक-से-अधिक लिया जा सकेगा।

वास्तु-विद्या के विद्वान् **डॉ. राजाराम जैन, पं. बाहुबली पार्श्वनाथ उपाध्ये, पं. जयकुमार शास्त्री**, तथा जिज्ञासु श्री **रमेशचन्द्र जैन** (पी.एस.जे.) और **श्री सुरेशचन्द्र जैन** (मत्री, कुन्दकुन्द भारती) के प्रोत्साहन से यह पुस्तक लिखी जा सकी, उनका कृतज्ञ हूँ। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण का भी कृतज्ञ हूँ, सभी छायाचित्रों के प्रकाशन की अनुमति के लिए। कलाकार, लेजर टाइपसैटर और मुद्रक का आभारी हूँ।

आशीर्वचन के लिए वयोवृद्ध संहितासूरि **पं. नाथूलाल जी शास्त्री**, इन्दौर को सप्रणाम धन्यवाद। सारगर्भित **प्रस्तावना** एवं सूक्ष्म निरीक्षणपूर्वक आधुनिक वैज्ञानिक विधि के **सम्पादन-कार्य** के लिए **डॉ० सुदीप जैन** का हृदय से आभारी हूँ **प्रकाशक** सस्थान **कुन्दकुन्द भारती** के अध्यक्ष, मत्री और न्यासि-मंडल का भी सधन्यवाद आभार मानता हूँ।

1.5.1996 **गोपीलाल अमर**

सम्पादकी

आधुनिक विधि से लिखित पुस्तकें अपने आप में यथासंभव व्यवस्थित प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्मित होने से उनमें 'सम्पादन' के विशेष अवकाश या अपेक्षा का अनुभव नहीं किया जाता है; तथापि आजकल प्रचलित अनेकों विधियों एवं शैलियों में से किस विधि या शैली का अनुसरण करके विषय को व्यवस्था प्रदान की जाय —इसका निर्धारण करने के लिये सम्पादक को निर्देश करना अपेक्षित होता है; ताकि पाठकों को विषय को व्यवस्थित ढंग से समझने में अनुकूलता रहे।

प्रस्तुत कृति में सम्पादन की दृष्टि से तीन बिन्दु विशेषतः विचारणीय हैं—**प्रथम** तो शोधपरक शैली में तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण होने से इसमें आधार-ग्रन्थों का उल्लेख होना अपेक्षित था। किन्तु बीच-बीच मे उद्धरणों की अधिकता विषय को प्रायः बोझिल बना देती है तथा प्रवाह भी भंग होता है। अतः विषय को सुगम एवं गतिशील बनाये रखने के लिये बीच में उद्धरण देने से यथासंभव बचा गया है। तथा जहाँ अपेक्षित था, वहाँ शीर्ष-क्रमांक (रिफ्रेंस नम्बर) डालकर पुस्तक के अन्त मे उनके उद्धरण सप्रमाण दिये गये हैं।

दूसरे उन्हें (रिफ्रेंस नम्बर्स को) सामान्यतः क्रमिकरूप से आदि से अन्त तक निरन्तर दिया गया है, तथापि कहीं-कहीं एक ही विषय का पुनः प्रसगवशात् आगे उल्लेख होने पर उसे पुनः **वही** शीर्ष क्रमांक (रिफ्रेस नम्बर) दिया गया है, जो प्रथम बार उस विषय का उल्लेख आने पर दिया गया था। इस शैली को अपनाकर एक ही उद्धरण बार-बार देने की दुविधा एव अधिक जगह भरने की परेशानी से मुक्ति पायी है।

तीसरे पारिभाषिक शब्दावलि का परिचय एवं सन्दर्भ-ग्रन्थों के सस्करण आदि का विवरण भी अन्त में दिया गया है। ताकि ग्रन्थ मे आगत विशेष पदो (टेक्नीकल टर्म्स) को पाठक सरल एंव परिचित शब्दावलि मे समझ सकें। तथा 'जो सन्दर्भ दिये गये हैं, वे उस ग्रंथ के किस संस्करण से उदधृत हैं' — यह तथ्य स्पष्ट हो सके। क्योंकि एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित सस्करणों के पाठों, पद्य क्रमांकों एवं पृष्ठ संख्या आदि में प्रायः अंतर होता है। अत. इस भ्रम का निवारण करने के लिए सन्दर्भ

ग्रन्थों के संस्करणों का परिचय अपेक्षित होने से वह भी दिया गया है।

विद्वान् लेखक ने इन सब बातों का सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से अनुपालन करते हुए इस संक्षिप्त कृति को संवारा-संजोया है। तथा गहन अध्ययनपूर्वक तथ्यों को सरल भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है। सम्पादन करते समय इन आधार-बिन्दुओ का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुये यह विशेषरूप से ध्यान रखा है कि हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं (उर्दू, अंग्रेजी आदि) की शब्दावलि से यथासंभव बचा जाये; ताकि यह कृति विभिन्न भाषाओं की शब्दावलि का जमावड़ा नहीं लगे। अन्य भाषाओं के शब्दों को या तो ( ) कोष्ठक में स्पष्टीकरण-हेतु दिया गया है, अथवा फिर उनके लिए हिन्दी में गठित शब्द अप्रसिद्ध या कठिन होने की स्थिति में अर्थावबोध की सुगमता के लिये अन्य भाषाओं के लोकजीवन में अतिप्रचलित शब्दों को बने रहने दिया गया है। जहाँ सरल-सुगम हिन्दी शब्द उपलब्ध हुये, वहाँ अन्य भाषाओं के शब्दों का हिन्दीरूप प्रस्तुत किया गया है। तथापि यह बारीकी से ध्यान रखा है कि मूल-लेखक की भाषा-शैली का प्रवाह (फ्लो) भंग न हो तथा कृत्रिमता न लगे।

अस्तु, फिर भी अनेकविध स्खलन संभव हैं, जिन्हें विद्वज्जन क्षमा करेंगे तथा मुझे उनसे अवगत कराने की कृपा करेंगे, ताकि आगामी संस्करणों मे उनकी पुनरावृत्ति न हो।

इस कार्य के लिये मूल प्रेरणास्रोत अहर्निश ज्ञानाराधना में निरत ज्ञानयोगी **आचार्यश्री विद्यानंद जी** का प्रेरक व्यक्तित्व ही रहा है। उन्हीं की प्रेरणा एवं व्यापक दृष्टि का सहारा लेकर मैं संपादन-कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ।

मैं अपनी ओर से यथासंभव सावधानीपूर्वक इस पुस्तक को पाठकों के लिए प्रस्तुत करने तत्पर हुआ हूँ, आशा है उनका स्नेह एवं मार्गदर्शन सदैव की भाँति उदारतापूर्वक उपलब्ध रहेगा।

—डॉ० सुदीप जैन

आशीर्वचन

देवपूजा के लिए जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, वीतरागी दिगंबर गुरुओं के धर्मोपदेश-हेतु प्रवचन-हाल, स्वाध्याय के निमित्त सरस्वती-भवन एवं अपने निवास और मुनिराजो आदि के आहार-दान के लिए उत्तम-गृह का निर्माण **गृहस्थ के कर्त्तव्यों** में सम्मिलित है। अपने न्यायोपार्जित-अर्थ के सदुपयोग और शुद्ध आहार-विहार के ये उत्कृष्ट साधन हैं।

मदिर और भवन-निर्माण में जो भूमि-खनन एव शिलान्यास की विधि शुभ मुहूर्त्त मे की जाती है, उसका एक उदाहरण स्मरणीय है।

'अयोध्या' तीर्थंकर ऋषभदेव आदि अनेक तीर्थंकरो की जन्म-भूमि है। वहाँ मुगलकाल मे एक दिगम्बर जैन-मंदिर के स्थान में मस्जिद का निर्माण करा दिया गया था। कालान्तर मे वहाँ के हाकिम के पास जाकर एक दिगम्बर जैन कार्यकर्त्ता ने निवेदन किया कि "इस मस्जिद के स्थान पर पहले दिगम्बर जैन-मदिर था। उसके प्रमाणस्वरूप जमीन के नीचे नींव मे पूजा-सामग्री विद्यमान है।" हाकिम ने भूमि खुदवाकर जब वह पूजा-सामग्री देखी, तो तत्काल उस स्थान पर जिनमंदिर-निर्माण की आज्ञा दे दी। आज भी हम शिलान्यास मे ताम्रकलश, दीपक आदि नींव में रखते है। प्रशस्ति-यंत्र भी वहाँ स्थापित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रथ में दिशासूचक-यत्र से 'पूर्व' आदि दिशाओं के ज्ञान का उल्लेख किया गया है। वर्तमान में इंजीनियर्स भी यही संकेत करते हैं। परन्तु उस यंत्र से सूर्य की पूर्व दिशा 'आग्नेयकोण' में आती है। यह 'आग्नेयकोण' पूर्व-दक्षिण दिशा का है। जबकि पूर्वदिशा 'आग्नेय' और 'ईशान कोण' के मध्य में है। ये चारों दिशायें निश्चित रहती हैं, जबकि सूर्य दक्षिणायन-उत्तरायण होता रहता है। इस त्रुटिपूर्ण परामर्श से अनेक मंदिर दक्षिण-दिशा मे निर्मित हो गये। **पंचांग से सूर्य की गति का ठीक ज्ञान होता है,** और मदिर, गृह, कूप आदि के शिलान्यास-संबंधी नियम अलग-अलग हैं, जिन्हे ज्योतिष-शास्त्र बनाता है। ऐसे अनेक तीर्थस्थल हैं, जो परिस्थिति और सुविधा के अनुसार यथास्थल निर्मित न होकर अन्यत्र निर्मित हुए हैं। परन्तु हमारा शाश्वत तीर्थराज सम्मेदशिखर ऐसा है, जहाँ पर जिस स्थान से जो तीर्थंकर मुक्त हुए हैं, उसी स्थान पर उनका मंदिर—

वर्तमान में टोंक व चरण-चिह्न (फुट-प्रिंट्स) निर्मित हुए हैं। चरण-चिह्न दिगम्बर-परम्परा के हैं और शास्त्रोक्त हैं। अतः पूर्व 'प्री०वी० कौंसिल' तथा वर्तमान में 'सुप्रीम कोर्ट' ने इसे मान्य किया है। इस तीर्थराज को 'दिगंबर तीर्थ' सिद्ध करने का यह प्रबल प्रमाण है।

दिशा-विदिशा में शुभाशुभ का इस कृति में सुन्दर उल्लेख है। ज्योतिष-शास्त्र में सभी विद्वानों ने उत्तरायण सूर्य में बिंब-प्रतिष्ठा आदि मांगलिक कार्य-संपादन करना बताया है। परन्तु आजकल 'अधिकमास' (मध्य का), 'मलमास' (नवम सूर्य का) एवं गुरु-शुक्रास्त के वर्जित मुहूर्तों में भी प्रतिष्ठायें व विवाह आदि होने लगे हैं, जिनके परिणाम की ओर हमारा ध्यान नही है। दक्षिणायन सूर्य में बिंब-प्रतिष्ठा नहीं होती। मीन राशि के सूर्य में भी यह निषिद्ध है। मंदिर- निर्माण, गृह-निर्माण की राशि. माह और तिथि, वार निश्चित हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के संबंध में लेखक ने इसमें अच्छा वर्णन किया है। भाव की दृष्टि से गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति के निर्माता कारीगर ने निःस्पृह-भाव से मूर्ति-निर्माण की थी। मैं अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ, जिन्होने मंदिर व मूर्ति-निर्माण के अवसर पर प्रतिष्ठा-पूर्ण होने तक ब्रह्मचर्य और व्रतोपवास-संयमपूवक रहने का नियम ले रखा था। प्रतिष्ठाकारक व प्रतिष्ठाचार्य के भाव व क्रिया पर मंदिर व मूर्ति में अतिशय निर्भर है। इसीलिए प्रतिष्ठापाठ में दिगम्बराचार्य से सूरिमंत्र देने-हेतु प्रतिष्ठा में निवेदन किया जाना है।

वर्तमान मे गृहस्थ-लोग अपने गृह में प्लास्टिक या अन्य धातु की मूर्तियाँ रखकर अपना आराधना-घर पृथक् बनाने लगे हैं, जो उचित नहीं है। अप्रतिष्ठित-मूर्ति रखकर उसकी पूजा-आरती-करना शुभ-सूचक नहीं है।

इस ग्रन्थ में जीर्णोद्धार की चर्चा करते हुए जो कुछ भी प्रमाण दिये हैं, उनके संबंध में यह मेरा निवेदन है कि जो प्रतिमायें प्राचीन हैं और उनका कोई उपांग साधारणरूप में खंडित हो गया हो, तो कुछ लोग मूर्ति के समस्त अवयव छेनी से छीलकर उपांग को नवीनरूप में निर्माण कराने लगे हैं; कुछ लोग मूर्ति पर लेप भी रखते हैं—यह उचित नहीं। शास्त्र में प्रतिष्ठित-मूर्ति पर टांकी लगाना निषिद्ध है। प्राचीनता कायम रखने का महत्त्व है। इससे मूर्तिकला के इतिहास की जानकारी मिलती है।

मंदिर नवदेवताओं के अन्तर्गत हैं। उसकी पूजा होती है। प्रतिष्ठा

विधि में मंदिर व मान-स्तंभ का अभिषेक सामने दर्पण में प्रतिबिंब देखकर 81 कलशों के मंत्रों द्वारा होता है। तीर्थ-क्षेत्रों की पूजा भी होती है। इन सबकी पूजा प्रतिष्ठित-मूर्ति और तीर्थंकर-देव के निमित्त से होती है। इनकी पूजा में गुणगान भगवान् के होते हैं। पूजा में मंदिर व तीर्थों के अचेतन पाषाणों के गुणगान नहीं होते। इसीप्रकार वास्तु-विधान या वास्तु-शांति मे आदर की दृष्टि से मंदिर को 'देवता' कह दिया गया है, क्योंकि वहाँ जिनेन्द्र विराजमान होगे। प्रतिष्ठाचार्यों एवं गृहस्थाचार्यों के लिए यह कृति अत्यंत उपयोगी है। हिमालय की यात्रा के अवसर पर परमपूज्य आचार्यश्री 108 विद्यानंद जी महाराज ने बद्रीनाथ जाते हुए मध्य में **श्रीनगर** में विश्राम किया। वहाँ के मंदिर और मूर्त्ति का अवलोकनकर प्रतिष्ठाग्रन्थ के अनुसार **'गज-आय'** मे पुनः विराजमान की। उससे वहाँ समाज की जो शोचनीय स्थिति थी, उसमे परिवर्तन होकर सुख-शांति का वातावरण हो गया। इस पर प्रतिष्ठाचार्यों को ध्यान देना चाहिए।

आध्यात्मिक-शांति के लिए मंदिर एवं भौतिक सुरक्षा-हेतु गृह आदि की निर्माण-कला 'वास्तुविद्या' है। 'जैन वास्तुविद्या' नामक इस कृति के विद्वान् **लेखक** डॉ० गोपीलाल जी 'अमर', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली है और प्रकाशक है: भारत की प्राचीन भाषा प्राकृत, शौरसेनी की शोध-सस्था 'कुन्दकुन्द भारती', नई दिल्ली। इस कृति में वास्तु सबंधी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए जिनालय और आवास की रचना-विषयक नियम एव उपयोगी साहित्य संगृहीत है। भवन-निर्माताओं की जिज्ञासा-पूर्ति हेतु **इस अपूर्व रचना के प्रेरणास्रोत एवं मार्गदर्शक हैं: परमपूज्य आचार्यश्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज;** जो प्राचीन साहित्य का निरन्तर अध्ययन-चितन-मनन से उपलब्ध सामग्री प्रदानकर लेखको को अपने शुभाशीर्वाद के साथ प्रोत्साहन प्रदान करते रहते है। संपादन-कला के विश्रुत विद्वान् डॉ० सुदीप जैन इस ग्रन्थ के **संपादक** हैं। आशा है महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के पठन से भवन निर्माण-संबधी पूर्व-बाधाओं एवं आशंकाओं का निराकरण होकर यथार्थ मार्गदर्शन मिलेगा। अंत मे परमपूज्य आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन एव लेखक 'अमर' जी को उनकी इस कृति द्वारा वर्तमान आवश्यकता-पूर्ति-हेतु धन्यवाद।

नाथूलाल जैन शास्त्री
इन्दौर

प्रस्तावना

द्वादशांगी जिनवाणी में बारहवें अंग के अन्तर्गत चौदहपूर्वों में **'क्रियाविशाल'** नामक एक 'पूर्व' है, जिसमें नौ करोड़ पदों द्वारा बहत्तर (72) कलाओं एवं चौंसठ (64) विद्याओं का सविस्तार-वर्णन होता है। इन्हीं कलाओं एवं विद्याओं में 'शिल्पकला' एवं 'वास्तुविद्या' के नाम से भवन-निर्माण की शास्त्रीय एव मांगलिक-विधि का परिचय दिया जाता है।

युगप्रधान आचार्यप्रवर कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृत 'श्रुत भक्ति' के छठवें पद्य में **"पाणावायं किरियाविसालमथलोयबिंदुसार-सुदं"** कहकर 'क्रियाविशाल' नामक इस अंग का उल्लेख किया है; तो आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने संस्कृत 'श्रुतभक्ति' के तेरहवे श्लोक में **'क्रियाविशालञ्च'** कहकर इसकी सूचना दी है।

'सर्वार्थसिद्धि' (1/20) नामक टीकाग्रन्थ मे चौदह पूर्वो का वर्णन करते हुये **तेरहवें पूर्व** के रूप मे 'क्रियाविशाल' नामक पूर्व का नामोल्लेख किया है। आचार्य भट्ट अकलकदेव ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' (1/20/12), आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'धवला टीका' (1/1,1, 2/114 तथा 9/4, 1, 45/212), आचार्य यतिवृषभ ने 'कसायपाहुड' (1/1-1/20/26) तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' (गा० 345-346) में उक्त आचार्यों ने भी चौदह पूर्वो का वर्णन करते हुए 'तेरहवे पूर्व' के रूप मे 'क्रियाविशाल' नामक पूर्व का वर्णन किया है।

'क्रियाविशाल' नामक इस 'पूर्व' की विषय-सामग्री का परिचय देते हुये आचार्य भट्ट अकलंकदेव लिखते है—

"लेखादिकाः कला द्वासप्ततिः गुणाश्चतुःषष्टिस्त्रैणाः शिल्पानि काव्य-गुण-दोष-क्रिया-छन्दोविचितिक्रिया-फलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्याताः तत्क्रियाविशालम्।" —*(राजवार्तिक)*

अर्थः—'क्रियाविशाल' नामक इस पूर्व मे 'लेखनकला' आदि बहत्तर (72) कलाओ का, चौसठ विद्याओ का, शिल्पशास्त्र का, काव्य-सम्बन्धी गुण-दोष-विधि का और छन्द-निर्माण-कला का विवेचन होता है।

आगम-ग्रन्थो के अनुसार इस 'क्रियाविशाल'पूर्व मे दस 'वस्तुगत' एव दो सौ (200) प्राभृतों के माध्यम से नौ करोड पदप्रमाण द्वारा उक्त विषयो

का वर्णन किया जाता है।

जैनकोशकारों ने 'कला' को 'विज्ञान' (ज्ञानविशेष) माना है तथा कलनीय (कला-विषयों) के भेदों के आधार पर इसके 'द्विसप्तति' (बहत्तर) भेद स्वीकार किये हैं। इन्हीं बहत्तर कलाओं में पैंतालीसवीं (45) कला का नाम 'वत्थुमाण' या 'वत्थुविज्जा' है (द्र० 'अभिधान राजेन्द्र कोश', तृतीय भाग, पृ० 376)। जबकि इतर भारतीय परम्परा में 'वास्तुविद्या' (शिल्पकला) को सैंतीसवीं (37) कला माना है।

इस 'वास्तुविद्या' किंवा 'शिल्पशास्त्र' के बारे में परिचय देते हुये जैन शास्त्रकार लिखते हैं—

(i) **''वास्तु-अगारम्''** *(सर्वार्थसिद्धि 7/29, तत्त्वार्थ राजवार्तिक 7/29/1)*
(ii) **''वास्तु च गृहम्''** *(तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागरी, 7/29)*
(iii) **''वास्तु गृह-हट्टापवरादिकम्''** *(कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गा० 340)*
(iv) **''वास्तु वस्त्रादिसामान्यम्''** *(लाटीसंहिता, 100)*
(v) **''वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु''** *(उत्तराध्ययन, 3)*

—इन सभी परिभाषाओ के अनुसार 'वास्तु' शब्द का अर्थ निवास करने योग्य भवन आदि हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' (भाग 4, पृष्ठ 358) के अनुसार **'वस निवासे'** धातु से **'वसेरगारे णिच्च'** इस उणादिसूत्र से **'तुण्' प्रत्यय** का विधान होकर 'वास्तु' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है **'गृहकरणयोग्यभूमिः'**। अर्थात् 'गृह' आदि की तो 'वास्तु' संज्ञा है ही, 'गृह' (मकान) आदि बनाने के लिये परिगृहीत भूमि को भी 'वास्तु' माना गया है।

उक्त 'भवन' आदि 'वास्तु' का निर्माण जिस किसी भी भूमि पर यद्वा-तद्वा कैसे भी कर लिया जाये अथवा इसका कोई वैज्ञानिक विधि-विधान भी होना चाहिये? सभवत. ऐसी ही कोई जिज्ञासा होने पर सूक्ष्म अध्ययन, गहन चितन एव व्यापक प्रयोगात्मक अनुभवों के आधार पर वास्तु-निर्माण के सम्बन्ध मे जो नियम-उपनियम बनाये गये, उन्हे ही 'वास्तुविद्या' के अन्तर्गत मर्यादित किया गया है।

आचार्य वीरसेन स्वामी इस 'वास्तुविद्या' के सम्बन्ध मे लिखते है—

''वत्थुविज्जं भूमिसंबंधिणमण्णं पि सुहासुहं कारणं वण्णेदि।''

अर्थः—वास्तुविद्या (जहाँ वास्तु का निर्माण किया जाना है, उस) भूमि से सम्बन्धित तथा अन्य (वास्तुनिर्माण-विधि आदि से सम्बन्धित) शुभ एव

अशुभ का तथा उसके (शुभाशुभ के) कारणो का वर्णन करती है।

अन्यत्र कोशग्रन्थों में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि—**"वास्तुनो गृह-भूमेर्विद्या वास्तुविद्या। वास्तुशास्त्रप्रसिद्धे गुण-दोष-विज्ञानरूपे कलाभेदे।"** —*(अभिधान राजेन्द्रकोश, षष्ठ भाग, पृ० 880)*

अर्थः—'वास्तु' अर्थात् भवन और भूमि—दोनों से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या 'वास्तुविद्या' है। इसमें वास्तुशास्त्र के अनुसार वास्तु के गुणों और दोषों का विशेषज्ञान कराया जाता है। यह बहत्तर कलाओं का एक भेद मानी गयी है।

'हलायुधकोश' में भी कहा गया है कि—

"वास्तुं संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्।" *(पृष्ठ 606)*

अर्थात् संक्षेपतः 'वास्तुविद्या' का अर्थ घर आदि में विघ्नों का निवारण करनेवाली विद्या या कला-विशेष ही 'वास्तुविद्या' है।

जैनग्रन्थों में मूलतः वास्तुशास्त्रीय नियम-उपनियमो का निर्माण 'जिनमंदिर' की दृष्टि से हुआ है, जिसे नवदेवताओं मे परिगणित किया गया है तथा जिसके लिये चैत्यालय, चैत्यगृह आदि संज्ञाओ का प्रयोग भी प्राप्त होता है। 'प्रतिष्ठासारोद्धार' (पद्य 10) में स्पष्टरूप से कहा गया है कि—

"जैनं चैत्यालयं चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम्।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च, वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्।।"

अर्थः—अपना एव राजा आदि का भला चाहनेवाले व्यक्तियों को जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा एव उनके अन्य उपकरणों आदि का निर्माण करते समय वास्तुशास्त्र की मर्यादाओं का उल्लघन नहीं करना चाहिये। अर्थात् जिनमदिर आदि का निर्माण वास्तुशास्त्रीय नियमों के अनुरूप ही कराना चाहिये।

चूकि गृहस्थजन 'घर' मे रहते हैं; अतः उनकी सद्बुद्धि रहे, धर्मकार्यों मे रुचि-प्रवृत्ति रहे, बाह्य अनुकूलता भी रहे (ताकि परिणाम न बिगड़ें) साथ ही उनका स्वयं का, उनके परिजनों का, ग्राम-नगर-राष्ट्र आदि का भी भला हो—इस दृष्टिकोण से घर-मकान आदि सांसारिक प्रयोजन से निर्मित भवनो को भी वास्तुशास्त्र के अनुसार बनवाने की प्रेरणा दी गयी है। सद् गृहस्थ को 'सागार' या 'गृहवासी' कहा गया है, फिर भी उसे धर्मात्मा माना गया है। "भरतजी घर ही मे वैरागी" जैसे वाक्यों में भी घर में रहकर भी

वैराग्यभाव के पोषण का कथन है। अब यदि घर ही अशुभ होगा, गलत ढंग से निर्मित होगा; तो उसमे निराकुलतापूर्वक धर्मध्यान एवं संयम–वैराग्य आदि के प्रशस्तकार्य कैसे संभव हो सकेंगे? संभवतः इसी दृष्टि से 'घर' को भी शास्त्र की मर्यादा के अनुसार शुभकारक बनाने के लिये वास्तुशास्त्र में सांसारिक उपयोग के भवनों की भूमि एवं निर्माणकार्य-संबंधी नियमावली भी बतायी गयी है। तथा यहाँ तक कहा गया है कि-

"अशास्त्रं मन्दिरं कृत्वा, प्रजा-राजागृहं तथा।

तद्गृहमशुभं ज्ञेयं, श्रेयस्तत्र न विद्यते।।"

अर्थः—वास्तुशास्त्र की विधि से विपरीत (नियमविरुद्ध ढग से) बने हुये जिनमंदिर, राजप्रासाद एवं प्रजा के साधारण मकान आदि कैसे भी भवन हों; वे सब (वास्तुशास्त्र-विरुद्ध होने से) अशुभ ही हैं। उनमे रहकर किसी का भी कल्याण होनेवाला नहीं है।

संभवतः इसीलिये **आचार्य उग्रादित्य** ने 'कल्याणकारक' (7/18) में कहा है— **"तत्रादितो वेश्मविधानमेव, निगद्यते वास्तु-विचारयुक्तम्।"**

अर्थः—मकान आदि के निर्माण में (अन्य समस्त सामग्री-सहायको-साधनों आदि के विचार से पूर्व) सर्वप्रथम वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से (भूमिपरीक्षण, भवननिर्माण-योजना आदि का) विचार करने का विधान किया गया है।

आचार्यदेव पुनः कहते हैं—

"प्रशस्त दिग्देशकृतं प्रधानमाशागतायां प्रविभक्तभागम्।" *(वही, पृ० 109)*

अर्थः—प्रशस्त (शुभ) दिशा एवं प्रशस्त क्षेत्र में वास्तुशास्त्रीय विधि से भवन-निर्माण करना चाहिये। उसमें भी जो प्रधान दिशा का श्रेष्ठ भाग है, उसी में विधिवत् निर्माणकार्य होना चाहिये।

'धवला' जैसे विशाल 'जैनतत्त्वज्ञान-कोश' ग्रन्थ में भी 'वास्तुशास्त्र' अथवा 'वास्तुविद्या' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है तथा 'वास्तु' के विभिन्न अंगों के बारे मे अनेकत्र प्रकरणवशात् उल्लेख वहाँ प्राप्त होता है। यथा—

(I) "जिणगिहादीणं रक्खणट्ठप्पासेसु ठविद ओलित्तीओ 'पागार' णाम।"

—(धवला 5/41, पृ० 40)

अर्थः—जिनमन्दिर आदि भवनों की रक्षा के लिए उनके चारों पार्श्वों मे जो भीत (दीवार) बनायी जाती है, उसे 'प्राकार' या 'परकोटा' कहते हैं।

(II) "वंदणमालबंधणट्ठं पुरदो ट्ठविद-रुक्खविसेसो 'तोरणं' णाम।"

अर्थः—वंदनवार बाँधने के लिए द्वार के आगे (दोनो ओर) जो वृक्ष–विशेष

लगाये जाते हैं, उन्हें 'तोरण' कहा गया है।

इन दो उल्लेखों से स्पष्ट है कि जिनमंदिर आदि भवनों के चारों ओर परकोटा होना चाहिये, तथा इनके द्वारा पर मंगलस्वरूप 'तोरण' एवं 'वंदनवार' आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। ध्यातव्य है कि ये सभी वास्तुशास्त्रीय दृष्टिसे शुभकारक वस्तुयें मानीं गयीं हैं।

'वास्तुविद्या' के इतने व्यापक महत्त्व एवं लोकोपयोगित्व को दृष्टिगत रखते हुये पंडितप्रवर आशाधरसूरि ने प्रतिष्ठाचार्य को अनेक विषयों के साथ 'वास्तुशास्त्र का विशेषज्ञ' होना भी अनिवार्य बतलाया है—

"श्रावकाध्ययन-ज्योति-वास्तुशास्त्र-पुराणवित्।"

अर्थः—(प्रतिष्ठाचार्य को) श्रावकाचार, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र और पुराणग्रन्थों का जानकार (विशेषज्ञ) होना चाहिये।

आचार्य भद्रबाहुकृत 'भद्रबाहुसंहिता' में तो 'वास्तुशास्त्र' के ज्ञान को ज्योतिष से भी महनीय प्रतिपादित किया है—

"ज्योतिषं केवलं कालं, वास्तु-विध्येन्द्रसम्पदा।"

अर्थः—ज्योतिष शास्त्र तो मात्र काल-सम्बन्धी ही कथन करता है, किन्तु वास्तुशास्त्र (के अनुपालन) से इन्द्र-सदृश दिव्य सुख-साधन प्राप्त होते हैं।

(यद्यपि जैनदृष्टि से यह कथन उपरिदृष्ट्या बहुत संगत प्रतीत नहीं होता है; तथापि जिस भवन मे बाह्य विघ्न-बाधा के बिना शातभाव से रहने को मिले, तो इस दुःखमय ससार में — गृहस्थ जीवन में संसारी प्राणी को इससे श्रेष्ठ बाह्य-सम्पदा अन्य कौन-सी हो सकती है? —इस अभिप्राय से यह सुसंगत प्रतीत होता है।)

वास्तुशास्त्र के सम्बन्ध में प्रख्यात विद्वान् स्व० डॉ० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य के विचार मननीय हैं—"वास (निवास) स्थान को 'वास्तु' कहते हैं। 'वास' करने से पूर्व 'वास्तु' का शुभाशुभ स्थिर करके वास करना होता है। लक्षणादि के द्वारा इस बात का निर्णय करना होता है कि कौन-सी वास्तु शुभकारक है तथा कौन-सी अशुभकारक है।" (भद्रबाहु संहिता, पृष्ठ 4)

जैनवास्तु-शास्त्र में 'ईशान दिशा' (उत्तरपूर्व) का अत्यधिक महत्त्व गया है। पं० आशाधर सूरि लिखते हैं—

"**पूर्वेशान विदिग्भागे शान्त्यर्थं जगतामिह।**" (पूजापाठ, 11, पृ० 37) 'वृहत्कल्पसूत्र' (457, पृ० 113) में भी कहा गया है—"**उत्तर-पुव्वा पुज्जा।**" इसकी टीका में स्पष्ट किया गया है कि "**उत्तर-पूर्वा च लोके पूज्या।**" अर्थात् लोकदृष्टि से उत्तरपूर्व दिशा-ईशानकोण को पूज्य माना गया है।

यह एक विचारणीय बिन्दु है कि किसी दिशा को 'पूज्य' जैसी पदवी का प्रयोग किस दृष्टि से किया गया? तथा यह भी विचार करें कि पेंच (स्क्रू) का कसना, पखे का घूमना, चक्की का चलना, नक्षत्रों की गति, चक्रवर्ती का विजय अभियान, घड़ी की सुई इत्यादि अनेकों लौकिक कार्य उत्तर से दक्षिण की ओर ही गतिमान होते हैं; विपरीत किये जाने पर इनसे हितसाधन नहीं होता—इसका क्या कारण है? यह क्या संयोगमात्र है अथवा अन्य कोई तथ्य भी इसके पीछे है? —यह गंभीरतापूर्वक अन्वेषणीय है। सभवत. इसी में 'उत्तरपूर्व' दिशा (ईशानदिशा) को पूज्य कहने का रहस्य निहित हो।

कतिपय विद्वानों ने वास्तु को 'देव' संज्ञा भी दी है। किन्तु यह न तो कोई अरिहतादि की तरह पूजनीय देव हैं,और न ही कोई स्वर्ग के देव है। यह तो हमारे लिये बाह्य अनुकूलता का साधन होने से सम्मानार्थ प्रयुक्त पद है। जैसकि लोक मे 'अतिथिदेवो भव' की परिकल्पना मात्र सम्मानार्थ है। भारतीय सस्कृति मे हितकारी व्यक्ति, वस्तु एवं स्थान आदि को सम्मान देने की परम्परा का ही एक निदर्शन 'वास्तुदेव' शब्द है।

वास्तुशुद्धि, भूमिपूजन, गृहप्रवेश आदि समस्त वास्तु-प्रसंगों में जैनविधि से जो पूजन की जाती है, वह मात्र नवदेवताओ (पचपरमेष्ठी-जिनचैत्य-चैत्यालय-जिनवाणी-जिनधर्म) की ही होती है, अन्य किसी सासारिक रागी-देवी-देवता की नही। —यह तथ्य भली-भाँति स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिये।

प्रख्यात वास्तुशास्त्री विद्वद्वर्य **पं० बाहुबलि जी उपाध्ये** द्वारा 1973 ई० मे श्रवणबेल्गोल मे वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से परिष्कार करने के बाद उस क्षेत्र की चहुँमुखी उन्नति एवं प्रतिष्ठा हमारे सबके समक्ष वास्तुशास्त्र के महत्त्व का उपयोगी निदर्शन है।

अस्तु, द्वादशागी जिनवाणी के बारहवें अग के अन्तर्गत वर्णित चौदह (14) पूर्वो मे तेरहवे (13) पूर्व 'क्रियाविशाल' की अन्तर्गता 'वास्तुविद्या' पर जैनशासन मे भले ही कोई स्वतंत्र आगमग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो; तथापि

जैनशास्त्रों में प्रासंगिक-कथनों के रूप में 'वास्तुविद्या' पर इतने विपुल परिमाण में सामग्री उपलब्ध है कि उसे गहन शोध-खोजपूर्वक संकलितकर यदि सम्पादित किया जाये, तो एक विशाल शोध-प्रबन्ध निर्मित हो सकता है।

इस दृष्टि से विद्वद्वर्य डॉ० गोपीलाल जी 'अमर' विरचित यह कृति तो 'प्रस्तावना' मात्र है; एक मंगल प्राथमिक प्रयास है, जो विद्वानों को इस दिशा में कार्य करने की शुभ-प्रेरणा के साथ उन्हें आहूत करता है। आशा है विद्वज्जन इस आह्वान से आकर्षित एवं प्रेरित होकर इस दिशा में व्यापक शोध-निमित्त अग्रसर होंगे। वास्तव में **वास्तुशास्त्र पर लेखनकार्य के लिये मात्र शास्त्रीय अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु व्यापक व्यावहारिक अनुभव एवं सूक्ष्म दृष्टि भी अपेक्षित है।**

इस कृति के विद्वान् लेखक डॉ० 'अमर' जी एवं प्रकाशक श्रीमान् सुरेशचन्द जी के अपनत्वपूर्ण अनुरोध पर मैं इसकी 'प्रस्तावना' लिखने में प्रवृत्त हुआ। यद्यपि मैं बहुत विशेषज्ञ विद्वान् नहीं हूँ तथापि विद्वानों के महत्त्वपूर्ण सुझाव-बिन्दुओं को संजोकर अल्पावधि में जितना संभव था, उतने अध्ययनपूर्वक यह संक्षिप्त पुरोवचन लिखे हैं।

यह कृति सद्गृहस्थों को प्रेरणादायी मांगलिक निमित्त बने — इस सद्भावना के साथ विराम लेता हूँ।

—डॉ० सुदीप जैन

अवनितल-गतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणाम्,
वन-भवन-गतानां दिव्य-वैमानिकानाम्।
इह मनुज-कृतानां देवराजार्चितानाम्,
जिनवर-निलयानां भावतोऽहं स्मरामि।।

वास्तु-विद्या का अर्थ और महत्त्व

वास्तु.विद्या का महत्त्व

वास्तु-विद्या का अर्थ है 'भवन-निर्माण की कला'। इसी को प्राकृतभाषा में 'वत्थु-विज्जा', उर्दू मे 'इल्मे सनाअत' और अंग्रेजी में 'आर्कीटेक्टॉनिक्स' कहते हैं। धर्म, ज्योतिष, पूजापाठ आदि ने मिलकर वास्तुविद्या को अध्यात्म से जोड़ दिया; जिससे उसका प्रचार एक आचार-संहिता की भाँति हुआ है। उससे समाज की आस्था जुड़ी है। यही कारण है कि वास्तु-विद्या अतीत की वस्तु होते हुये भी वर्तमान की वस्तु उससे कहीं अधिक है।

वास्तु-विद्या के प्रति आकर्षण प्राचीनकाल से अब तक बढ़ता ही रहा है। वर्तमान गगनचुबी भवनों, समुद्राकार बाँधों आदि के निर्माण के वर्तमान सिद्धात मूलरूप मे वे ही हैं, जो आरंभ से प्रचलित रहे हैं। लगता है, वास्तु-विद्या के प्राचीन सिद्धातो पर प्राचीनकाल में उतना व्यापक निर्माण नहीं हो सका, जितना आज हो रहा है।

आज यह विद्या 'साईंस ऑफ आर्किटेक्चर' के रूप मे एक स्वतत्र विषय बन चुकी है। कई विश्वविद्यालयो में इस विद्या के अध्यापन के लिए स्वतत्र विभाग और महाविद्यालय स्थापित किए गए हैं। इस विषय पर उच्चतम स्तर पर शोधकार्य भी हो रहे हैं। वैज्ञानिक सुविधाओ और औद्योगिक आवश्यकताओ ने वास्तु-विद्या का एक अत्याधुनिकरूप विकसित किया है। इस विद्या के अप्रत्याशित चमत्कारों की प्रतीक्षा सहजभाव से की जाने लगी है, यही वास्तु-विद्या के महत्त्व का प्रमाण है।

निर्माण-कार्य : प्राचीन और आधुनिक

मानव-जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र मे भी प्रबल क्राति हुई है। प्राचीन परम्पराओं का स्थान अब नई-नई शैलियाँ और निर्माण-विधियाँ ले चुकी हैं। निर्माण की सामग्री भी अब आधुनिकतम आविष्कारों से पूरी तरह प्रभावित है। पत्थर का प्रयोग अब सजावट तक सीमित रह गया है। लकड़ी का स्थान प्लास्टिक आदि कृत्रिम पदार्थ लेते जा रहे है। सुंदरता

और सुविधा-संपन्नता के नए कीर्तिमान स्थापित हो चुके हैं। ज्योतिष, मंत्र-तंत्र आदि पर आधारित वास्तु-विद्या के बदले रेखागणित, मौसम-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि को मान्यता मिल रही है।

जनसंख्या के दबाव ने निर्माताओं को कम-से-कम भूमि पर अधिक से अधिक आवास-गृह जुटाने को विवश कर दिया है; इसलिए गगनचुंबी भवन खड़े किए जा रहे हैं, विशाल-विस्तृत कॉलोनियाँ और नगर बसाए जा रहे हैं। उद्योग-नगरियो का विकास सर्वत्र हो रहा है; आधुनिकतम् कारखाने लगाए जा रहे हैं। सार्वजनिक सुविधाओं के साधन जुटाए जा रहे हैं। धार्मिक और सास्कृतिक स्थानों के निर्माण की भी यही स्थिति है।

पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने के लिए वृक्षारोपण और उद्यानीकरण को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। आकर्षक पर्यटन-स्थल अस्तित्व में आ रहे हैं। पशु-पक्षियो के लिए अभयारण्यों का विकास हो रहा है।

परन्तु परम संतोष का विषय है कि भवन-निर्माण कला के इस प्रबल परिवर्तन के युग मे भी प्राचीन वास्तु-विद्या का स्मरण किया जाता है। धर्म और वास्तु-विद्या के भूले-बिसरे संबध पुनः स्थापित किए जाने लगे हैं। अनेक निर्माता, स्थपति (आर्किटेक्ट) और वास्तुविद् प्राचीन वास्तुशास्त्रीय सिद्धातो का सहारा ले रहे हैं। अनेकानेक गृहस्थ और उद्योगपति अपने भवनो और मकानो में वास्तु-विद्या के अनुरूप सुधार कराते देखे जा सकते हैं। इस मान्यता पर लोगो का विश्वास आज भी है कि **दिशा बदलने से दशा बदल सकती है।**

'वास्तु' शब्द का अर्थ

'वास्तु' शब्द सस्कृत की 'वस्' क्रिया से बना है[1], जिसका अर्थ है 'रहना'। मनुष्यो, देवो और पशु-पक्षियों के उपयोग के लिए मिट्टी, लकडी, पत्थर आदि से बनाया गया स्थान 'वास्तु' है। सस्कृत का 'वसति' और कन्नड का 'बसदि' शब्द भी वास्तु के अर्थ मे ही हैं। हिन्दी का 'बस्ती' शब्द भी वास्तु से सबद्ध है, परन्तु वह ग्राम, नगर आदि के अर्थ मे प्रचलित हो गया है।

सोना-चाँदी, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य-भाण्ड से भी पहले क्षेत्र और वास्तु को स्थान देकर 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में आचार्य उमास्वामी ने वास्तु-विद्या को दो हजार वर्ष पहले जो महत्त्व दिया था,[2] वह आज भी विद्यमान है।

'वास्तु' और 'स्थापत्य' शब्दों की एकरूपता

'वास्तु' का ही अर्थ देनेवाला संस्कृत शब्द है 'स्थापत्य'। वह 'स्था' क्रिया से बना है, जिसका अर्थ है : रहना, ठहरना, टिकना आदि। इसके लिए अंग्रेज़ी में 'आर्किटेक्चर' और उर्दू में 'इमारत' शब्द हैं। चार उपवेदों में से एक का नाम है 'स्थापत्य-वेद'; 'हिन्दी-शब्दसागर' के अनुसार इसे विश्वकर्मा ने 'अथर्ववेद' से निकाला था।[3] इस संदर्भ में विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के एक पुत्र का नाम [4]'विश्वकर्मा'[5] भी था और उनके ज्येष्ठपुत्र भरत का अन्य नाम 'अथर्वा'[6] भी था।

'स्थापत्य' शब्द का पहला रूप है 'स्थपति', जिसका अर्थ है 'मिस्त्री' या 'राजगीर'। उल्लेखनीय है कि सस्कृत मे 'स्थपति' शब्द का एक अर्थ है 'कुबेर'; और यह भी उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर के समवसरण का निर्माण इंद्र के आदेश पर कुबेर ही करता है।

'वास्तु' और 'शिल्प' शब्दों की तुलना

सस्कृत मे ही एक और शब्द है, 'शिल्प'। यह उसी क्रिया से बना है, जिससे 'शिला' बना है। 'शिला' का अर्थ है 'पत्थर', इसीलिए 'शिल्प' का अर्थ होना चाहिए 'पत्थर का काम'। 'शिल्प' शब्द का कुछ अर्थ-परिवर्तन हुआ, जिससे वह 'वास्तु' का अर्थ कम और 'कला' का अर्थ अधिक देने लगा। 'शिल्प' शब्द का अर्थ-विस्तार भी हुआ, जिससे उसमें अब सभीप्रकार की दस्तकारियाँ, ललित कलाएँ और यांत्रिक कलाएँ आती हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने जनता को आजीविका के छह साधन बताए थे[7] : असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प। इनमे से विद्या के अनेकरूपों में वास्तु-विद्या और शिल्प-कला भी रही होनी चाहिए।

वास्तु-विद्या और 'कला' की समानता

द्वादशाग जिनवाणी के बारहवे अंग 'दृष्टिवाद' के अंतर्गत चौदह 'पूर्वों' मे 'क्रिया-विशाल' नामक तेरहवे पूर्व में विविध कलाओ और विधाओ का समावेश है, जिनमें 'वास्तु-विद्या' भी एक है। 'समवायाग-सूत्र' के अनुसार **चौंसठ कलाओं में छप्पनवीं से इकसठवीं तक की छह कलाएँ वास्तव में वास्तुविद्या की ही विभिन्न शाखाएँ हैं।** उनके नाम हैं : स्कधावार-मान (सैन्य शिविरो की लंबाई-चौड़ाई), नगर-मान, वास्तु-मान, स्कंधावार-निवेश,

वास्तु-निवेश और नगर-निवेश। कालान्तर में वास्तु-विद्या एक स्वतंत्र विषय बन गई, तब भी ये छहों रूप कलाओ में सम्मिलित बने रहे।

विद्याओं और कलाओं में कई दृष्टियों से समानता है; दोनों की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती' है, जिसका एक नाम है 'ब्राह्मी'[8]। तीर्थंकर ऋषभनाथ की ज्येष्ठ पुत्री का नाम भी ब्राह्मी था; उसने लिपि-विद्या का प्रवर्तन किया था।[9] उस सरस्वती और इस ब्राह्मी में और भी कई बातों में एकरूपता है। अतः कहा जा सकता है कि "वास्तु-विद्या का प्रवर्तन ब्राह्मी से हुआ था।"

वास्तु-विद्या : अतीत पर विहंगम दृष्टि

मनुष्य की तीन मौलिक आवश्यकताएँ हैं: रोटी, कपड़ा और मकान। —यह कथन इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से है। मनोविज्ञान की दृष्टि से पाँचवीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद ने 'इष्टोपदेश'[10] में लिखा था: "जो जहाँ रह रहा हो, वह वहीं रम जाता है; वह जहाँ रम जाता है, वहाँ से कहीं और नहीं जाना चाहता।"

उनसे भी पूर्व प्रथम शती ई० मे आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे दान के जो चार प्रकार बताए थे,[11] उनमे एक आवास भी है; यह धार्मिक दृष्टि है। प्राकृतिक गुफाओ को काट-छाँटकर वनवासी साधुओं के रहने योग्य बनाने की परम्परा इसीलिए चली। दक्षिण भारत मे, विशेषतः कर्णाटक में मंदिरो के साथ 'मुनि-वास' बनाने की प्रथा आज भी है; इसीलिए वहाँ मदिर को 'बसदि (वसति)' कहते हैं।

आवास के धार्मिक महत्त्व से मदिर-स्थापत्य का विकास हुआ होगा। दसवीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने 'षट्खण्डागम' की अपनी 'धवला' नामक टीका[12] मे संकेत किया था कि "वास्तु-विद्या मे भूमि के सन्दर्भ में शुभाशुभ फलों का विधान होता है।" पौराणिक आख्यानों से स्थापत्य के आकार-प्रकार में विविधता आई। इसमें सहायता की 'लोक-विद्या' (कॉस्मोलॉजी) ने, जिसमें मध्यलोक, नन्दीश्वर द्वीप, ढाई-द्वीप, जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र, विदेह क्षेत्र, मेरु पर्वत आदि की अद्‌भुत-अपूर्व रचनाओं के विस्तृत वर्णन हैं।

इन सभी कारणों से भारतीय वास्तुविद्या इतनी व्यावहारिक और वैज्ञानिक बन गयी कि उसका प्रचार वृहत्तर भारत में, विशेषतः दक्षिणपूर्व एशिया में भी हुआ। स्वय भारत में विदेशी शासकों ने इसका प्रत्यक्ष या

परोक्षरूप में अनुकरण किया। पाषाणों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ, बेल-बूटे आदि उन्हें इतने रुचिकर लगे कि उन्होंने वे नये निर्माणों में ज्यों के त्यों बनवा दिये। यहाँ तक कि अनेकानेक भारतीय निर्माणों को उन्होने ऊपरी परिवर्तन करके अपने पूजास्थलों का रूप दे दिया। इसका विस्तृत विवरण वास्तुविद्या के विदेशी विद्वानों ने अनेकत्र दिया है।[13]

वास्तु-विद्या का अन्य विषयों से सम्बन्ध

शिल्पकला

उपर्युक्त कारणों से वास्तु-विद्या का विकास हुआ, जिसकी अनुगामी हुई शिल्प-कला। इस विद्या-कला के युगल ने धर्म के साथ जुड़कर भारतीय वाङ्मय को काव्य-ग्रंथो के बाद कदाचित् सर्वाधिक ग्रंथ दिये। राजमहलों की बाह्य और आतरिक सज्जा, यहाँ तक कि शय्या-आसन आदि तक के आकार-प्रकार पर इन ग्रंथो ने विस्तृत नियम और उपनियम बनाये। तेरहवीं शताब्दी मे आचार्य-कल्प पडित आशाधर जी ने चेतावनी दी कि 'जैन मदिर और मूर्ति का निर्माता अपना और अपने राजा का भला चाहे, —तो वास्तु-शास्त्र का उल्लघन नहीं करे' : "**वास्तु-शास्त्रं न लंघयेत्।**"[14]

वास्तु-विद्या और शिल्प-कला के युगल ने वाङ्मय के क्षेत्र मे प्रवेश से बहुत पहले व्यावहारिकरूप लेना आरभ कर दिया था। लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व 'सिंधु घाटी की सभ्यता' मे ये युगल कुलाँचे भरने लगा था। सिंध-सभ्यता और तीर्थंकर महावीर के बीच के काल मे वह युगल किशोर अवस्था की ओर बढा; जब उत्तर प्रदेश के मथुरा मे 'देव-निर्मित' स्तूप की रचना हुई। मथुरा मे ही वास्तु-विद्या और शिल्प-कला के युगल ने युवावस्था की ओर क़दम बढाया तथा उड़ीसा मे इसने उदयगिरि-खडगिरि और बिहार में पाँच पहाड़ियों आदि की यात्रा की।

भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल मे गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत पाँचवीं-छठी शती तक उसने यौवन की देहली पर पाँव रखे। मध्यकाल तक वास्तु-विद्या और शिल्प-कला का युगल राजगद्दी पर बैठ चुका था। जब ऐलोरा के गुफा-मदिर, श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर बाहुबली, खजुराहो के मूर्तिमान् मंदिर, आबू के संगमरमरी शिल्प, शत्रुजय आदि के मंदिर-नगर, जैसलमेर आदि के शास्त्र-भडार तथा अन्य चमत्कार सामने आये। इन चमत्कारों में स्थापत्य और शिल्प की ऐसी सगति बैठाई गई है, जैसी शब्द और अर्थ की होती है, काव्य और रस की होती है।[15] उससे समझ में आता है कि स्थापत्य और शिल्प पर सयुक्त ग्रंथ क्यों लिखे गए, अलग-अलग क्यों नहीं।

वास्तु-विद्या और चित्र-कला

शिल्प की भाँति चित्र भी स्थापत्य के साथ विकसित हुए। प्रागैतिहासिक काल में कुछ क्षेत्रों में तो स्थापत्य या शिल्प के प्रचलन से पूर्व ही चित्रांकन द्वारा गुफाएँ अलंकृत की जाने लगी थीं। ये चित्रांकन ही निखर-सँवरकर मन्दिरों में प्रविष्ट हुए, तो दर्शकों के पुण्य-सञ्चय का निमित्त बने और निवास-गृहों में प्रविष्ट हुए, तो नव-वधुओं को उलझन में डालने लगे; क्योंकि उनमें चित्रित नर-नारियों को वे सजीव समझ बैठती थीं।[16]

वास्तुविद्या और चित्रकला का पारस्परपरिक सहयोग एवं सम्बन्ध अनुपम है। अजंता, बादामि, ऐलोरा, सित्तन्न-वासल, विजय-मंगलम्, तिरुमलय, कांचीपुरम् आदि विशेषतः दक्षिण भारतीय तीर्थ जितने स्थापत्य और शिल्प के कारण प्रसिद्ध हैं; उतने ही चित्रांकनों के कारण जाने जाते हैं। पाडुलिपियों अर्थात् हस्तलिखित ग्रन्थों में सहस्रों की संख्या में बहुरंगी चित्र बनाए गए, उनमें स्वर्ण-निर्मित रोशनाई तक का प्रयोग किया गया।

धर्मशास्त्र

वास्तु अर्थात् 'भूमि और उस पर निर्माण' के लिए धन चाहिए। धन की प्राप्ति के लिए सुलझी हुई दृष्टि, कुशल कार्यक्रम और कठोर परिश्रम चाहिए; ये तीनो एक-रस होकर धन तो जुटाते ही हैं, धर्म की भावना भी जगाते हैं।[17] इससे स्पष्ट है कि वास्तु-विद्या और धर्म की भावना का जन्म साथ-साथ एक ही गर्भ से होता है। इष्ट-देव के मूर्तीकरण में, मूर्ति के लिए मदिर के निर्माण में, मंदिर के अनुकूल साज-सज्जा में वास्तु-विद्या ही काम करती है। दूसरी ओर भूमि के चयन और संस्कार में, निर्माण की रूपरेखा और शुभारंभ में, सजावट और गृह-प्रवेश में धर्मशास्त्र की भूमिका होती है।[18] इसप्रकार धर्मशास्त्र और वास्तु-विद्या एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं।[19]

कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र ने वानप्रस्थ, संन्यास, गात्र-मात्र-परिग्रह (शरीर ही है परिग्रह जिनका, ऐसे दिगंबर साधु) आदि शब्द गढ़कर वास्तुविद्या को पीछे ढकेला है; परंतु यह भी तो कहना होगा कि धर्मशास्त्रों ने विवाह, निर्वाह, दान, सत्कार आदि के विधान करके वास्तु-विद्या को बढ़ावा भी दिया है।

पंडित आशाधर जी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "असली घर तो गृहिणी (धर्मपत्नी) है, न कि दीवारें और आसन्दिकी (सोफासेट) आदि।"[20]

वास्तुविद्या और अर्थशास्त्र

'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', —यह बात पुरानी पड़ गयी है; अब तो आविष्कार आवश्यकता का जनक बन बैठा है। कुछ ऐसा ही चक्र वास्तु-विद्या और अर्थशास्त्र के मध्य है। वास्तु-विद्या रोटी-कपड़ा और मकान के 'मकान' तक ही सीमित नहीं रह गई है। मकान-बनाऊ कंपनियाँ, नगर-बसाऊ व्यवसायी, बहुराष्ट्रीय उद्योगपति, रेल-उद्योग आदि-आदि को धन चाहिए; लेकिन उससे पहले पैर टिकाने को जगह चाहिए; जगह पर विज्ञान-सम्मत भवनो की शृंखला चाहिए।

आज वास्तु-विद्या और अर्थशास्त्र का वही संबंध बन गया है, जो चोली और दामन का होता है; यद्यपि यह संबंध अपने ढग से और अपने स्तर पर प्राचीनकाल में भी था।[21] एक से दूसरे को अलग करके वास्तु-विद्या और अर्थशास्त्र का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता है।

समाजशास्त्र

समाजशास्त्र और सामाजिकी (ह्यूमैनिटीज) के शताधिक रूपों का सबंध, प्रत्यक्ष या परोक्ष, वास्तु-विद्या से अवश्य है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

राजनीति और प्रशासन को वास्तु-विद्या ने अगम-अभेद्य दुर्ग दिए, दिव्य-भव्य भवन दिए, स्वर्ग-सदृश नगर दिए, भारत और श्रीलका के मध्य समुद्र-सेतु दिया, चक्रव्यूह और लाक्षागृह की कल्पना दी, सिन्धु सभ्यता के नगर-निवेश दिए; और भी बहुत कुछ दिया।

मनोविज्ञान के विकास मे वास्तु-विद्या का योगदान मौलिक है। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'; कठौती यानी काठ की पतीली में भरा पानी भी गंगाजल का आनद देता है; अगर मन चंगा हो, प्रसन्न हो। मन चंगा होता है स्थिरता (स्टेबिलिटी) से; स्थिरता आती है तब, जब सिर ढकने को छप्पर हो।[22] छप्पर की विद्या ही वास्तु-विद्या है।[23]

फलित[24] और गणित ज्योतिष वास्तु-विद्या में आदि से अंत तक व्याप्त हैं। गृहस्वामी की तो बात ही क्या, गृह या भूमि के भी ग्रह-नक्षत्र का मिलान अनिवार्य बताया गया है। गणित ज्योतिष का पर्यावरण और विज्ञान से सीधा सबंध है, इसलिए उसके अनुकूल बना घर ही शुभ या लाभदायक

होगा। वास्तु-विद्या की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है कि उसके नियम-उपनियम गणित ज्योतिष के आधार पर बने हैं।

पूजापाठ या कर्मकांड या क्रिया-कलाप का संबंध वास्तु-विद्या से इतना आत्मीय है कि वास्तु-विद्या पर स्वयं वास्तु-विद्या के ग्रंथों में उतना नहीं लिखा गया, जितना पूजा-प्रतिष्ठा के ग्रंथों में लिखा गया है; —यह तथ्य जैन संदर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय है, जहाँ वास्तु-शास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथों की संख्या अत्यंत सीमित है। शुद्धतावादी दार्शनिक, सुधारवादी समाजशास्त्री और विज्ञानप्रेमी गृहस्थ समर्थन करें या नहीं; किंतु भूमि-पूजन, गृह-प्रवेश आदि के समय मंत्र-शुद्धि एवं विधि-सम्पादन का चलन रहा है।[25]

वास्तु-विद्या पर उपलब्ध साहित्य

वास्तु-विद्या पर वैदिक साहित्य

वास्तु-विद्या पर सर्वप्रथम 'अथर्ववेद' में प्रकाश डाला गया। फिर पुराण, ज्योतिष, प्रतिष्ठा आदि के ग्रंथों में भी इस विषय को प्रसगानुकूल स्थान दिया गया। 'डिक्शनरी ऑफ हिंदू आर्किटेक्चर' मे डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य ने वास्तु-विद्या पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रकाश डालनेवाले लगभग दो सौ सात ग्रथो के नाम सकलित किए है; उनमे अनेक जैन-ग्रंथ भी हैं। शैली की दृष्टि से ये ग्रथ दक्षिणी और उत्तरी परम्पराओ में रखे जाते हैं।

दक्षिणी परम्परा के मुख्य ग्रंथ हैं: शैवागम, वैष्णव पंचरात्र, अत्रि-सहिता, वैखानसागम, दीप्ति-तन्त्र; तत्र-समुच्चय आदि। **उत्तरी परम्परा** के प्रमुख है: मत्स्य-पुराण, अग्नि-पुराण, भविष्य-पुराण, बृहत्-संहिता (ज्योतिष ग्रंथ); किरण-तत्र, हयशीर्ष-पचरात्र, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण (चित्र-कला के लिए विशेष), और हेमाद्रि, रघुनंदन आदि के प्रतिष्ठा-ग्रथ। वास्तु-विद्या पर स्वतत्ररूप से लिखे गए **वैदिक ग्रंथों** मे विशेष उल्लेखनीय हैं: विश्वकर्मा का शिल्प-शास्त्र, मय-मत, मानसार, काश्यप-शिल्प (अंशुमद्-भेद), अगस्त्य-सकलाधिकार, सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र, शिल्पसग्रह, शिल्परत्न, चित्र-लक्षण दक्षिणी परपरा मे; और विश्वकर्म-प्रकाश, समरागण-सूत्रधार-मंडन, वास्तु-रत्नावली, वास्तु-प्रदीप आदि।

करणानुयोग के ग्रंथों में वास्तु-विद्या

जैनपुराणो तथा करणानुयोग के प्रायः सभी ग्रथों से वास्तु-विद्या और शिल्पशास्त्र पर विशद प्रकाश पड़ता है। त्रिलोकी, मध्यलोक, जम्बूद्वीप, मेरु, समवसरण आदि की रचना पर सहस्रो गाथाएँ और श्लोक हैं। प्रतीत होता है कि उन रचनाओं से विशाल राज-प्रासाद, भव्य जिनालय आदि के रूप-निर्धारण में प्रेरणा ली गई थी। जिनालय तो स्पष्टरूप से समवसरण का लघुरूप होता है। नन्दीश्वरद्वीप की रचना आज भी आष्टाह्निक (अठाई) पर्वों पर की जाती है।

करणानुयोग का प्राचीन, किंतु अनुपलब्ध ग्रंथ है **'लोयविभाग'**, जिसका संस्कृत रूपांतर 'लोक-विभाग' के ही नाम से मुनि सिंह सूरि (लगभग 11वीं शती) ने किया था। उन्होंने लिखा है कि मूल 'लोकविभाग' की रचना पल्लववंशी कांची-नरेश सिंहवर्मा के शासन-काल में **शक संवत् 380** (302 ई.) मे **मुनि सर्वनन्दी** ने **पाटलिक** नामक ग्राम मे की थी; परंतु यह ग्रंथ इससे भी पूर्व रहा प्रतीत होता है, क्योंकि 'लोयविभाग' का उल्लेख 'तिलोयपण्णत्ती' (176 ई.) में कई बार हुआ है। 'नियमसार' की सत्रहवीं गाथा में सन्दर्भित 'लोय-विभाग' यही ग्रथ माना जाए, तो उसका रचनाकाल आचार्य कुन्दकुन्द (52 ई.पू. से 48 ई. तक) से पूर्व मानना होगा।

एक और अनुपलब्ध ग्रंथ है 'ज्योतिष्करण्डक', जो कि 'सूर्य-प्रज्ञप्ति' नामक प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है और जिस पर आचार्य पादलिप्त सूरि (5वीं शती) की 'प्रकरण' टीका तथा आचार्य मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

उपलब्ध ग्रथों में सर्वाधिक विस्तृत और सूचनाप्रधान ग्रंथ है आचार्य यतिवृषभ का 'तिलोयपण्णत्ती', जिसका अनुसरण अनेक आचार्यों ने किया है। उसमें अनेक नगरियो के विस्तृत विवरण हैं। आवासगृह, जलाशय, बाजार, परकोटा, प्रवेशद्वार, राजभवन, गुफा, स्तूप, मंदिर, मानस्तम्भ, मेरु आदि की लंबाई-चौड़ाई, ऊँचाई-गहराई, नाप-जोख आदि तक बताए गए हैं। तीर्थंकर के समवसरण का वर्णन तो और भी विस्तार से है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती का 'त्रिलोकसार' (11वीं शती), आचार्य पद्मनन्दि का 'जंबुद्दीवपण्णत्ती' आदि भी उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त भी कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ है: औपपातिकसूत्र, जीवाजीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, जिनभद्र गणी का 'क्षेत्रसमास' और 'सग्रहणी', बृहत्-क्षेत्रसमास (त्रैलोक्य-दीपिका), चंद्र सूरि (12वीं शती) द्वारा संकलित 'बृहत्-संग्रहणी', प्रद्युम्न सूरि (13वीं शती) का 'विचारसार-प्रकरण', रत्न-शेखर सूरि (14वीं शती) का 'लघुक्षेत्रसमास', सोमतिलक सूरि (14वीं शती) का 'बृहत्-क्षेत्रसमास', आदि।

प्रतिष्ठा-पाठों में वास्तु-विद्या

जिनवाणी[26] की भाँति वास्तु-विद्या भी आरंभ में गुरु-शिष्य परपरा से मौखिकरूप में प्रचलित रही। वास्तु-विद्या का ज्ञाता और वास्तु-निर्माण में कुशल सूत्रधार यह विद्या विरासत में लेता और विरासत में देता रहा।

स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में नहीं, बल्कि प्रतिष्ठा-ग्रंथ के एक अंग के रूप में या फिर वास्तु-विद्या और मूर्ति-कला पर संयुक्त ग्रंथ के रूप में लगभग तेरहवीं शती से इसे लिखित रूप मिला। संभवतः इसका एक कारण यह रहा कि ये विषय एक-दूसरे से इतने अधिक जुड़े हुए हैं कि उन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखना उस समय व्यावहारिक प्रतीत नहीं हुआ होगा।

ऐसी रचनाओं मे पाँचवीं शती के आचार्य पादलिप्त सूरि की 'निर्वाणकलिका', दसवीं शती के उत्तरार्द्ध के आचार्य वीरनन्दी द्वितीय की 'शिल्पिसंहिता' और आचार्य इंद्रनन्दि का 'प्रतिष्ठा-पाठ', लगभग ग्यारहवीं शती के आचार्य ब्रह्मदेव का 'प्रतिष्ठा-तिलक'; पंडित आशाधर का 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' (1228 ई.) और 'पूजा-पाठ', उनके समकालीन पंडित ठक्कुर फेरु का 'वत्थु-सार-पयरण' (1315 ई.), प्रसिद्ध नाटककार हस्तिमल्ल का 'प्रतिष्ठापाठ'; बारहवीं-तेरहवीं शती के पण्डित नेमिचंद्रदेव का 'प्रतिष्ठा-तिलक', तेरहवीं शती के नेमिचंद्र सूरि (उपर्युक्त पण्डित जी?) का 'प्रवचन-सारोद्धार' और उस पर उसी समय के सिद्धसेन सूरि (देवभद्र के शिष्य) की 'तत्त्वज्ञान-विकासिनी' नामक टीका, उपाध्याय सकलचन्द्र का 'प्रतिष्ठा-कल्प', आचार्य उग्रादित्य का 'कल्याण-कारक' आ० जयसेन द्वारा लिखित 'प्रतिष्ठापाठ' (वसुबिन्दु) एव वसुनन्दि आचार्य का 'प्रतिष्ठापाठ' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आ० जयसेनकृत 'प्रतिष्ठापाठ' में मंदिर के निर्माण के सबंध मे विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

पंडित आशाधर का 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार'

भारतीय साहित्य की अधिकांश विधाओं मे पंडित आशाधर का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 1228 ई. मे लिखे गए उनके 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' मे मूर्ति-प्रतिष्ठा के माध्यम से वास्तु-विद्या का भी विधान है। 'जिन-यज्ञकल्प' के दूसरे नाम से भी प्रसिद्ध 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' प्रौढ-प्राञ्जल संस्कृत में 971 श्लोकों के छह अध्यायों में विभक्त है: 1. सूत्र-स्थापन, 2. तीर्थ-जल का लाया जाना आदि, 3. याग-मंडल की पूजा, 4. जिन-प्रतिष्ठा, 5. अभिषेक आदि एवं 6. सिद्ध आदि की प्रतिष्ठा। अंत में ग्रंथकार की विस्तृत प्रशस्ति है।

जिनवाणी के अनन्य उपासक पंडित आशाधर ने इस ग्रंथ में शुद्ध आम्नाय के अनुसार गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य आदि को महत्त्व देते हुए मंदिरों के जीर्णोद्धार का विधान भी किया है।

इसका प्रथम प्रकाशन पाढम-निवासी पं. मनोहरलाल शास्त्री ने हिंदी अनुवाद के साथ तैयार कर अपने श्री जैनग्रंथ-उद्धारक कार्यालय, मुंबई से 1917 में किया था। प्रस्तुत पुस्तक में इस ग्रंथ की भी सहायता ली गई है।

ठक्कुर फेरु का 'वत्थु-सार-पयरण'

वास्तु-विद्या पर स्वतंत्र और सांगोपांगरूप से वर्णन करनेवाला कदाचित् एकमात्र प्रकाशित जैनग्रथ है **ठक्कुर फेरु का 'वत्थुसार-पयरण'** अर्थात् 'वास्तुसार-प्रकरण'। 1315 ई. में लिखित इस प्राकृत ग्रंथ में क्रमशः 158, 54 और 70 गाथाओं के क्रमशः तीन अध्याय हैं: गृह-प्रकरण, बिंबपरीक्षा-प्रकरण, प्रासाद (मंदिर)-प्रकरण। इतनी कम गाथाओं में वास्तु-विद्या और शिल्प-कला के अधिसंख्य पक्षों का विधान इस ग्रंथ की एक विशेषता है। साथ ही इसमें दिगंबर-श्वेतांबर भेदभाव नहीं है, जबकि इसके लेखक श्वेतांबर-परपरा के श्रावक थे। इसके संदर्भ 'आचार-प्रदीप', 'श्राद्ध-विधि' आदि जैनेतर ग्रंथों में भी दिए गए हैं।

'रत्न-परीक्षा' नामक ग्रंथ के भी लेखक ठक्कुर फेरु दिल्ली के निकट करनाल के धंध-कुल में उत्पन्न कालिक सेठ के प्रपौत्र और ठक्कुर चद्र सेठ के पुत्र थे। उन्होंने यह ग्रंथ उस समय लिखने का साहस किया, जब तत्कालीन शासक अलाउद्दीन खिलजी से सभी धर्मों के अनुयायी त्रस्त थे।

'वत्थु-सार-पयरण' का प्रकाशन जैन विविध ग्रंथमाला, जयपुर से 1936 में हुआ था; इसके संपादक-अनुवादक पं. भगवानदास जैन थे। **प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में यह आधार-ग्रंथ है।**

अन्य विषयों के ग्रंथों में वास्तु-विद्या

वास्तु-विद्या के लिए पुराण-साहित्य का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। इस विषय पर आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' (783 ई.) में अत्यधिक विस्तार से लिखा है। उनके बाद उल्लेखनीय हैं: आचार्य पुष्पदन्त (10वीं शती) का अपभ्रंश 'महापुराण', आचार्य हेमचन्द्र सूरि (12वीं शती) का 'प्राकृत तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार', आचार्यकल्प पंडित आशाधर (13वीं शती) का 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुष-चरित' आदि।

इनके अतिरिक्त काव्य, नाटक, चंपू आदि ग्रंथों में विभिन्न नगरों, राजप्रासादों, जिनालयों आदि के वर्णन आते हैं; उनसे भी वास्तु-विद्या के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ज्योतिष के ग्रंथों में भी मकान, मंदिर

आदि के निर्माण की विधि, मुहूर्त, फलाफल आदि पर विचार करते समय वास्तुविद्या के संदर्भ आते हैं। इसीप्रकार गणित, मंत्र-तंत्र और ऐसे ही अन्य विषयों के ग्रंथो में भी इस विषय के प्रसंग आते हैं। आचार्य उमास्वामी के नाम से प्रचलित एक श्रावकाचार ग्रंथ में भी लिखा है कि 'घर की किस दिशा में कौन-सा कक्ष हो।'

वास्तु-विद्या पर आधुनिक लेखन

सामाजिक उत्थान, मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, औद्योगिक प्रगति और वैज्ञानिक चमत्कारों ने मिलकर वास्तु-विद्या का भी अभूतपूर्व विकास किया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाए गए नुस्खे और नियम बेकार साबित नहीं हुए हैं; परन्तु उनकी माँग क़ो निर्माण की नई-नई विधियो, शैलियो, सामग्रियों आदि ने प्रभावित अवश्य किया है।

उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर वास्तु-विद्या पर नए ग्रंथ भी लिखे जा रहे हैं,[27] प्राचीन ग्रथों के आधार पर और स्वतंत्र चिंतन के आधार पर भी, शोध-खोज के स्तर पर और व्यावसायिक स्तर पर भी, भारत मे और भारत के बाहर भी। इन ग्रंथों का सर्वेक्षण और मूल्यांकन एक बहुत बड़ा काम है। जैनदृष्टि से यह काम किसी सीमा तक स्व. डॉ. यू.पी. शाह, प्रो. एम.ए. ढाकी और डॉ. गोपीलाल 'अमर' ने किया है। फिर भी इस विषय पर शोध-खोज की बहुत आवश्यकता है।

चूँकि वास्तु-विद्या के प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन ग्रंथों में एक भी ऐसा नहीं है; जिसमें इस विद्या के प्रत्येक अग और उपांग की सविस्तार व्याख्या वैज्ञानिक और तुलनात्मक दृष्टि से की गई हो; इसलिए यह शोध अधिक आवश्यक है। सामान्यदृष्टि से इस दिशा में डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य, डॉ. तारापद भट्टाचार्य, डॉ. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, श्री अमलानन्द घोष, प्रो. कृष्ण देव आदि ने कुछ काम किया है; परंतु जैनदृष्टि से अभी पर्याप्त कार्य होना बाकी है। 'जैन आर्ट एंड आर्किटेक्चर' और 'जैन कला और स्थापत्य' के तीन-तीन खड भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से 'आस्पेक्ट्स ऑफ जैन आर्ट एंड आर्किटेक्चर' ला.द. इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद से; 'पैनोरमा ऑफ जैन आर्ट' टाइम्स ऑफ इडिया, नई दिल्ली से तथा कुछ अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं। वे अच्छे हैं, किंतु अपर्याप्त हैं। वास्तव में 'जैन वास्तु-विद्या' पर एक विश्वकोश की आवश्यकता है। ◻◻

वास्तु-विद्या और पर्यावरण

पर्यावरण की शुद्धता

मंदिर, मकान, कारख़ाना, क़िला, कॉलोनी, नगर आदि[28] के निर्माण में पर्यावरण की अनुकूलता परम आवश्यक है। प्रस्तावित भूमि के समीप आवागमन की सुविधा, निर्माण-सामग्री और मज़दूरों-कारीगरों की उपलब्धि, बाज़ार, मनोरंजन के साधन, शिक्षा-संस्थाएँ आदि तो होनी ही चाहिए; ऐसा समाज भी होना चाहिए, जिससे उस निर्माण के उद्देश्य में बाधा नहीं पड़े, बल्कि सहायता मिले। प्रस्तावित भूमि के आसपास प्रकृति का बाढ़ आदि के रूप में प्रकोप न होता हो, प्राकृतिक छटा बिखरी हो; तो और भी अच्छी बात होगी। पर्यावरण की अनुकूलता के भी चार बिन्दु हैं: **द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव**।

'**द्रव्य**' का अर्थ है निर्माण-कार्य में लगनेवाला धन, सामग्री, क़ारीगर आदि। '**क्षेत्र**' का मतलब है वह भूमि और उसका पर्यावरण, जहाँ निर्माण होना है। '**काल**' का तात्पर्य मौसम से तो है ही, सामाजिक वातावरण, राजनीतिक परिस्थितियों आदि से भी है। '**भाव**' का मतलब है निर्माता और उसके सहयोगियो के आचार-विचार।

इन चारों का प्रभाव भौतिक तो होता ही है, आध्यात्मिक भी होता है। इनमें से किसी एक के भी प्रदूषित या नियम-विरुद्ध होने पर उस निर्माण से संबंध रखनेवालों को आए दिन कोई-न-कोई कष्ट होता रहता है; यह कष्ट शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अस्थायी भी और स्थायी भी। यह कष्ट तभी दूर होगा, जब उसे पैदा करने वाले प्रदूषण या नियम-विरोध का निवारण दिया जाए। उचित यही होगा कि निर्माण के पहले ही पर्यावरण की शुद्धता पर ध्यान दिया जाए।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश

प्रदूषण-रहित पर्यावरण और समशीतोष्ण जलवायु की प्राप्ति प्रकृति से तो हो ी ही है; उसे मनुष्य अपने प्रयत्न से भी प्राप्त कर सकता है। यह

प्रयत्न है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु[29] और आकाश[30] के सदुपयोग का। वास्तुविद्या में ये पाँचों महाभूत[22] या महातत्त्व मौलिक स्थान रखते हैं।

पृथ्वी पर निर्माण-कार्य होता है। मिट्टी, पत्थर, खनिज, सीमेंट आदि पृथ्वी के अंग[31] हैं; जो निर्माण के उपादान कारण[32] हैं। वैज्ञानिक आविष्कार परम्परागत वस्तुओं को उपेक्षित करते जा रहे हैं; लेकिन पृथ्वी-तत्त्व ऐसा है, जो किसी-न-किसी रूप में अनिवार्य बना रहेगा।

जलतत्त्व का साम्राज्य इस पृथिवी के दो-तिहाई भाग पर है। निर्माण-कार्य में जल चाहिए, उद्योग-व्यवसाय में जल चाहिए, निर्माता को दैनिक उपयोग के लिए जल चाहिए। इस संदर्भ मे आचार्य उग्रादित्य ने बड़ी मार्मिक चेतावनी दी है कि "जो गाँव सुविधाहीन हो, जिसमें कुआँ गाँव के बाहर कहीं दूर भयकर जगह पर हो, तथा यदि गाँव में भी हो, पर वह कुआँ इतना गहरा कि उससे जल निकालने के लिए यत्र की आवश्यकता पड़े; तो वह गाँव रहने योग्य नहीं है।"[33] इसीलिए वास्तु-विद्या में परामर्श दिया गया है कि भूमि के चयन करते समय जल की सुविधा का ध्यान रखा जाए।

अग्नि के नाम से भयभीत न होकर उत्साहित होना चाहिये; क्योंकि ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक आविष्कार बढ़ेंगे, त्यों-त्यों अग्नि का महत्त्व भी बढ़ेगा। आज विद्युत् शक्ति के रूप मे अग्नि का उपयोग प्रतिक्षण हो रहा है, कदम-कदम पर हो रहा है। अणु में प्रच्छन्न अग्नितत्त्व का उद्घाटन ही नहीं, बल्कि उसकी शक्ति का परीक्षण भी हो चुका है। वास्तु-विद्या में भी अग्नितत्त्व की महत्ता अक्षुण्ण है।

'वायु' नामक महाभूत की महत्ता वास्तु-विद्या में तो है ही, दुनिया की सभी विधाओ मे है। प्रत्येक प्राणी के लिए प्रतिपल वायुतत्त्व आवश्यक है। वायुयान के आविष्कार से वायु की धारण-शक्ति का सप्रमाण परिचय मिला है। जैन आचार्यो का यह विधान अब शत-प्रतिशत सत्य माना जा रहा है कि 'वायु मे स्पर्श के साथ रस, गंध, रूप और शब्दोत्पादक शक्ति भी होती है।' वास्तु-विद्या में तो वायु-संचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

आँगन, लॉन, टैरेस, छत, मंडप, पार्क, मैदान आदि के रूप मे खुलपेन का प्रावधान वास्तु-विद्या मे आकाश की महत्ता सिद्ध करता है। जो अनत है, सर्वव्यापी और सर्व-अवगाहक है—ऐसे आकाश के लाभ भी अनंत हैं।

पर्यावरण और वनस्पति-जगत्

वनस्पति से सैकड़ों रूप हैं, और सभी रूपों में वह प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक है। वृक्ष को 'तरु' इसलिए कहते हैं; क्योंकि उसके सहारे लोग आपदाओं को 'तरते हैं', पार करते हैं: "**तरन्ति आपदम् अनेन इति तरुः।**" प्राचीनकालीन कल्पवृक्षों का, दस प्रकार के इच्छापूरक वृक्षों का परिचय तो सबको होना है ही।

प्राचीनकाल में तो लकड़ी से राजमहल तक बना लिए जाते थे। संस्कृत के 'काष्ठगृह' से हिन्दी का 'कटरा' शब्द बना है, जिसका अर्थविस्तार ध्यान देने योग्य है। दूसरी ओर 'काष्ठगृह' शब्द से ही निष्पन्न 'कठघरा' शब्द में आगत अर्थसंकोच भी विचारणीय है। आज प्लास्टिक के युग में भी लकडी का महत्त्व है। वनों, उद्यानों, गृह-सज्जा आदि के लिए पेड़-पौधों की अनिवार्यता है। मनुष्य द्वारा प्रदूषित पर्यावरण को निर्दोष बनाने का प्राकृतिक दायित्व वनस्पति-जगत् का ही है। प्रकृति के अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्रकोपों से मनुष्य की रक्षा वनस्पति-जगत् सदा करता रहेगा। पर्यावरण की दृष्टि से सभी वृक्ष अच्छे हैं, परन्तु वास्तुविद्या की दृष्टि से कुछ वृक्षों से परहेज करना चाहिए।[34]

डॉ. जगदीश चंद्र बसु और उनके यंत्र 'क्रेस्कोग्राफ' को धन्यवाद, जिन्होने जैन आचार्यो का यह विधान वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा सिद्ध कर दिखाया कि 'पेड-पौधों मे भी अन्य प्राणियों की तरह प्राण होते हैं।'

द्रव्य की शुद्धता

सामग्री के चयन में द्रव्य की शुद्धता

भूमि की ख़रीद पर और निर्माण पर जो धन लगाया जाए, वह न्यायपूर्वक कमाया हुआ होना चाहिए। 'सागार–धर्मामृत' (10, 11) में पंडित आशाधर सूरि ने आदर्श गृहस्थ के लक्षणों मे पहला लक्षण लिखा है, **'न्यायोपात्त-धनं'** अर्थात्, न्याय से अर्जित किया है धन जिसने, ऐसा व्यक्ति। कायदा-कानून के अनुसार कमाए गए धन से जो निर्माण होगा, उसमें निर्माता निर्भय-निश्चिंत रह सकेगा। इससे उसे मानसिक शांति मिलेगी, जिससे वह और भी अधिक धन कमाकर पुण्य के काम कर सकेगा।

मदिर का निर्माण तो पुण्य-संचय के लिए ही किया जाता है। उसी के निर्माण मे पाप की कमाई लगाई गई, तो उससे पुण्य की आशा रखना व्यर्थ होगा। कहते हैं कि "दूसरे स्थानों पर किया गया पाप मंदिर में धुल जाता है; यदि मदिर ही पाप की कमाई से बना होगा, तो उससे पाप कैसे धुलेगा ?"[35]

निर्माण मे जिस सामग्री का प्रयोग हो, वह साफ-सुथरी हो, ऊँचे स्तर की हो, सभ्यता-सस्कृति के अनुकूल हो। सामग्री असली होनी चाहिये, नकली या डुप्लीकेट नहीं। आजकल कृत्रिम (सिंथेटिक) सामग्री का चलन बढ रहा है। प्रयोग से पहले इसके गुण-अवगुण की वैज्ञानिक दृष्टिसे, आयुर्विज्ञान की दृष्टि से भी जाँच करा ली जाए।

जितनी अच्छी सामग्री का उपयोग किया जाएगा, उतने ही अच्छे विचार निर्माता के मन मे आएँगे। अच्छे विचारो से अच्छे काम होंगे, कमाई होगी, शांति मिलेगी, यश मिलेगा।

किसी दूसरे मकान, मदिर आदि से निकली लकड़ी, पत्थर आदि सामग्री अपने मकान, मदिर आदि मे कभी नहीं लगानी चाहिए।[36] पुरानी सामग्री नई सामग्री के मुकाबले टिक नहीं सकेगी; दोनो का मेल भी नहीं बैठ सकेगा। पुरानी सामग्री मुरझाई हुई होती है, अतीत के वातावरण से जुडी हुई होती है; इसलिए वह उपयोग करनेवाले को भी पुराना बनाकर

छोड़ती है, उसकी ताज़गी छीन लेती है; यहाँ तक कि उसे जल्दी बूढ़ा कर देती है।

उपकरणों या औज़ारों का स्तर

निर्माण-कार्य में जो औज़ार, मशीनें आदि उपकरण उपयोग में लाए जाएँ, वे भी अच्छे स्तर के हों; ताकि निर्माण मज़बूत हो, सुंदर हो और शांतिदायक हो। निर्माण के पश्चात् अंतरंग और बाह्य साज-सज्जा के विषय और सामग्री पर भी ध्यान दिया जाए। निर्माता और उसके परिजनों की रुचि के साथ संस्कृति, लोक-व्यवहार आदि से भी साज-सज्जा की संगति बैठनी चाहिए। घर-गृहस्थी में उपयोग में आनेवाली वस्तुयें भी इसी प्रकार सात्त्विक, दिव्य और भव्य होनी चाहिए।

वास्तु-विद्या में 'शिल्पी के अष्ट-सूत्र' का उल्लेख मिलता है 1. **दृष्टि-सूत्र**—आँखों से ही इतनी सही नाप-जोख कर लेना, जितनी औज़ारों से की जाती है। 2. **हस्त**—लगभग 45 सेंटीमीटर या डेढ़ फुट लंबी पट्टी, जो सरल रेखा खींचने और नापने के काम आती है और जिसके नौ अधिष्ठाता देव रुद्र, वायु, विश्वकर्मा, अग्नि, ब्रह्मा, काल, वरुण, सोम और विष्णु होते हैं। 3. **मुंज**—'मूंज' नामक घास से बनी डोरी, जिसके सहारे लबी सरल रेखा खीची जाती है, या दीवाल आदि को सरल रेखा मे बनाने के लिए जो एक छोर से दूसरे छोर तक बाँधी जाती है। 4. **कार्पासक**—कपास का सूत, जो साहुल (प्लम्ब लाइन) लटकाने के काम आता है। 5. **अवलंब**—अर्थात् साहुल या लोहे का ठोस लट्टू, जिसे सूत से लटकाकर दीवाल आदि की ऊपर से नीचे तक की सिधाई जाँची जाती है। 6. **काष्ठ**—गुनिया या ट्राइंग ऐंगल, जिससे कोण बनाने या नापने मे मदद ली जाती है। 7. **सृष्टि या साधनी**—जो फर्श आदि को समतल बनाने में स्पिरिट लेबल की तरह सहायक होती है। 8. **विलेख्य**—अर्थात् परकार (पेयर ऑफ डिवाइडर्स), जिससे रेखाओं आदि की दूरी तुलनात्मक दृष्टि से नापी जाती है।

शिल्पी के अष्टसूत्र सम्बन्धी इन सभी उपकरणों के रेखाचित्र (अग्रिम पृष्ठ पर) प्रस्तुत हैं:—
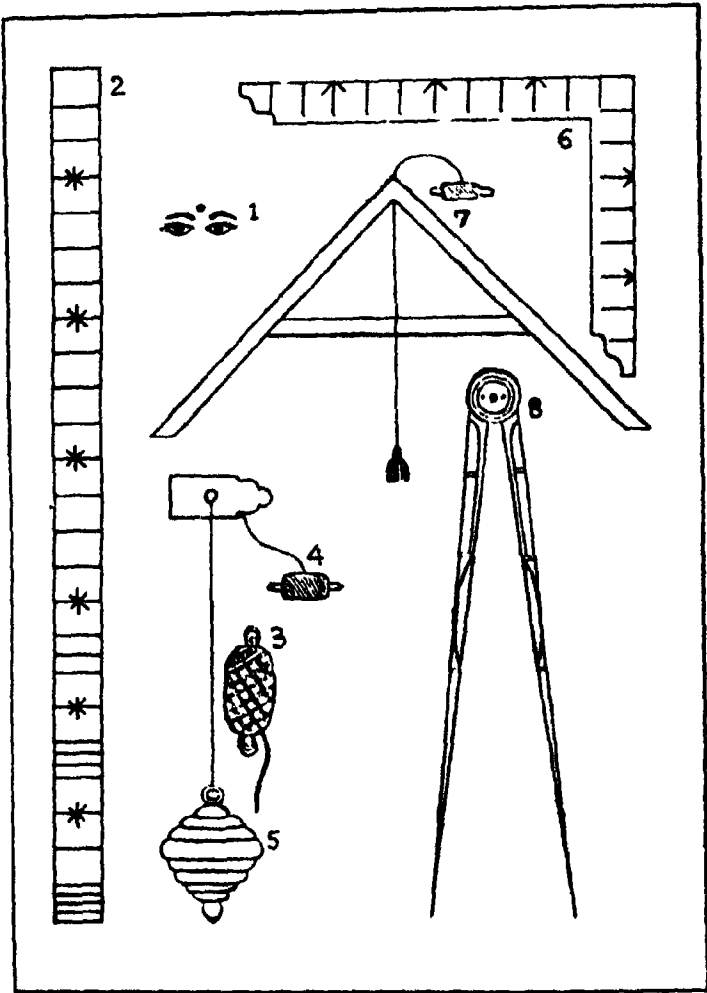
शिल्पी के अष्ट-सूत्र

क्षेत्र की शुद्धता

वास्तु के लिए देश और क्षेत्र का चयन

मंदिर, मकान, कारख़ाना, किला, कॉलोनी, नगर आदि का निर्माण जिस देश या क्षेत्र में किया जाए; वह सभी दृष्टियों से सुंदर और सुविधा-संपन्न हो—इस दृष्टि से भूमि के त्रुटिहीन चयन में सहायता के लिए जैनाचार्यों ने भूमि के (खनिज पदार्थों के) छत्तीस भेद[31] किये हैं।[29]

विभिन्न देश वास्तु-विद्या में जांगल, अनूप और साधारण नाम से तीन भागों में रखे गए हैं। **जांगल देश** मरुस्थल होते हैं; जिनमें जल की कमी, रेत की बहुतायत, कँटीली झाड़ियाँ, तेज आँधी, काली मिट्टी होती है। **अनूप देश** वे हैं, जो प्राकृतिक सुषमा-सम्पदा से भरपूर होते हैं। साधारण देशों में उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण होते हैं।

तीनों प्रकार के देशों में प्राकृतिक, भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, व्यावसायिक आदि कारणों से क्षेत्रीय विभाग बन जाते हैं। ऐसे विभाग सोलह हो सकते हैं, जो यथानाम-तथागुण हैं: बालिश-स्वामिनी, भोग्या, सीता-गोचर-रक्षिणी, अपाश्रयवती, कांता, खनिमती, आत्मधारिणी, वणिक्-प्रसाधिता, द्रव्यवती, अमित्र-घातिनी, अश्रेणि-पुरुषा, शक्य-सामन्ता, देव-मातृका, धान्य-शालिनी, हस्ति-वनोपेता और सुरक्षा।

नौवीं शती में आचार्य जिनसेन ने 'आदि-पुराण' के सोलहवें पर्व में नगर-निवेश के कई पक्ष व्यावहारिकरूप में प्रस्तुत किये हैं। देशों के वर्गीकरण का उनका आधार द्रष्टव्य है: नदी-नहरों के जल से सिंचित देश **अदेवमातृक**, प्राकृतिक वर्षा से सींचे गये देश **देवमातृक** और दोनों से सिंचित देश **साधारण** कहलाते हैं (श्लो. 157)। सुकोशल और अवंति से लेकर शक और केकय तक (श्लो. 152-56) बावन देशों के नाम देते हुए वे लिखते हैं कि "उनमें तीनों प्रकार के देश थे। उनकी सीमाओं पर सब ओर किलाबंदी थी और अंतपाल (सीमारक्षक) नियुक्त थे। उन देशों के मध्य में और भी अनेक देश थे; जिनकी रक्षा लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिंद, शबर आदि जातियों के लोग करते थे। उन देशों में कोट, प्राकार

(परकोटा), परिखा (खाई), गोपुर (विशाल प्रवेशद्वार) अटारी आदि का निर्माण था।"

भूमि परीक्षा की आवश्यकता

मंदिर, मकान, कारख़ाना, क़िला, कॉलोनी, नगर आदि के निर्माण के लिए भूमि का चयन जितना मुश्किल है, उतना ही ज़रूरी भी है। भू-स्थल परीक्षा या जियोलॉजिकल सर्वे और मृत्तिका-परीक्षण या सॉयल टेस्ट में जो खरी उतरे, वही भूमि चुनी जाए।

निर्माण के लिए प्रस्तावित भूमि की परीक्षा पाँचों इन्द्रियों से की जाए। खुरदरापन-चिकनापन, खारापन-सोंधापन, बदबू-खुशबू उसके दोष या गुण के प्रतीक हैं। जिस भूमि को देखते ही रहने को मन करे, जिससे मौन निमंत्रण मिलता लगे; वह भूमि चुनी जाए। जिस भूमि की धमक में बुलंदी हो, अर्थात् पत्थर आदि पटकने से उठी आवाज़ से जिसके ठोसपन का पता लगे, वह भूमि अच्छी मानी जाए। यह भी देखा जाये कि भूमि ऊबड़-खाबड़ या टेढ़ी-मेढ़ी न हो। उसमें गड्ढे न हों, कंकड़-पत्थर की अपेक्षा मिट्टी अधिक हो, और एक पुरुष की गहराई पर जल बह रहा हो। वहाँ की जलवायु न बहुत ठंडी हो, न बहुत गर्म।

इस सदर्भ में पंडित आशाधर का कथन उद्धृत करने योग्य है "जिन-मंदिर के लिए ऐसी भूमि ली जाए जो देखने में अच्छी लगे, चिकनी हो, सुगंध आदि गुणों से समृद्ध हो, दूब से हरी-भरी हो, स्वाभाविकरूप से शुद्ध हो या जिनदेव के जन्म आदि किसी कल्याणक से पवित्र हो।

भूमि के ठोसपन की जाँच

भूमि जितनी ठोस होगी, उस पर होने वाला निर्माण उतना ही स्थायी होगा। भूमि के ठोसपन की जाँच के कुछ मनोरंजक, लेकिन वैज्ञानिक उपाय हैं।

प्रस्तावित भूमि के किसी भाग में लगभग दो वर्ग फुट गड्ढा खोदा जाए और उसमें उसी की मिट्टी भरी जाए। भरने के बाद जितनी अधिक मिट्टी बचे, उतनी ही ठोस वह भूमि होगी, उत्तम होगी। मिट्टी बचे नहीं, तो वह भूमि मध्यम होगी। मिट्टी भरने के बाद भी गड्ढा खाली रहे, तो भूमि बिल्कुल ठोस नहीं होगी; ऐसी जघन्य भूमि पर निर्माण नहीं किया जाए।

दूसरा उपाय यह है कि वैसे ही गड्ढे में मिट्टी के बदले पानी भर दिया जाए। वह भूमि पानी सोखने में जितना अधिक समय ले, उतनी ही ठोस वह मानी जाए। जो भूमि पानी बहुत कम समय में सोख ले, उस पर निर्माण नहीं करना चाहिए।

भूमि के ठोसपन की जाँच का एक उपाय और भी है। उस भूमि पर उन दिनों उगनेवाला अनाज बोया जाए। उसमें जितनी जल्दी अंकुर आ जाएँ, उतनी ही उत्तम वह भूमि मानी जाए। जिस भूमि पर या उसके किसी भाग पर अंकुर बहुत देर से आएँ, या आएँ ही नहीं; उस पर मकान, मंदिर आदि नहीं बनाया जाए।

भूमि के शुभ या अशुभ होने की जाँच

वास्तु-विद्या में भूमि के शुभ या अशुभ होने की जाँच के भी बहुत ही मनोरंजक, लेकिन पौराणिक उपाय प्रचलित रहे हैं। ये उपाय वर्ण-व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, परंतु इनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है।

प्रस्तावित भूमि में लगभग दो फुट लंबा-चौड़ा गड्ढा खोदकर उसमें चार पुष्प-मालाएँ अलग-अलग रखी जाएँ: ब्राह्मण की सफेद, क्षत्रिय की लाल, वैश्य की पीली और शूद्र की काली। सबसे ज़्यादा देर में सूखनेवाली माला अपने वर्णवाले निर्माता के लिए कल्याणकारी होगी। इसके विपरीत, सबसे पहले सूखनेवाली माला के वर्णवाले निर्माता को वह भूमि अशुभ हो सकती है।

प्रस्तावित भूमि में लगभग दो फुट लंबा-चौड़ा गड्ढा खोदकर उसमें चारों दिशाओं में एक-एक दीपक जलाकर रखा जाए: पूर्व में ब्राह्मणों के लिए, दक्षिण में क्षत्रियों के लिए, उत्तर में वैश्यों के लिए और पश्चिम में शूद्रों के लिए। सबसे अधिक देर तक जलता रहनेवाला दीपक अपने वर्ण वाले निर्माता के लिए शुभ होगा। सबसे कम देर तक जलनेवाला दीपक अशुभ का सूचक माना जाए। या फिर, उस गड्ढे में चार के बदले एक ही दीपक रखा जाए, परंतु उसमें उसी प्रकार चारों वर्णों की प्रतीक चार बत्तियाँ हों। सबसे अधिक देर तक जलती रहनेवाली बत्ती अपने वर्णवाले निर्माता के लिए कल्याणकारी होगी। सबसे कम देर तक जलनेवाली बत्ती हानिकारक हो सकती है।

भूमि के उत्तम, मध्यम या निम्नप्रकार जानने के लिए उसी भूमि की

कुछ धूल हवा में उछालें। वह धूल उड़कर नीचे की ओर जाए, तो मानें कि वह भूमि निम्नप्रकार की है और उसके निवासी की भविष्य में निम्नगति संभव है। धूल नीचे-ऊपर न जाकर मध्य में रह जाए, तो मानें कि वह भूमि मध्यम प्रकार की है और उसके निवासी की भविष्य में मध्यम गति संभव है। वह धूल उड़कर ऊपर की ओर जाए, तो भूमि उत्कृष्ट प्रकार की मानें और उसके निवासी की भविष्य मे उत्तम गति की संभावना मानें।

भूमि के चयन में ध्यान रखने योग्य बातें

मंदिर से सटी हुई भूमि (भूखंड या प्लॉट) कष्टदायक हो सकती है। यहाँ तक कि जिस भूमि पर किसी मंदिर की छाया पड़ती हो, विशेषरूप से दूसरे-तीसरे प्रहर में (नौ बजे सवेरे से तीन बजे शाम तक), उस भूमि से कष्ट-ही-कष्ट मिलेगा। जो भूमि किसी और के मकान की सीमा में या चौक में हो उससे गृहस्वामी को हानि हो सकती है। दो विस्तृत भूखंडों के बीच फँसा छोटा भूखंड कष्टदायक हो सकता है। किसी धूर्त आदमी या किसी मंत्री के घर के पास जो भूमि होगी, उसके स्वामी को पुत्र से या धन से या दोनों से हाथ धोना पड़ सकता है।

किसी विशेष कारण से भूमि का विस्तार करना पडे, तो वह आगे या दाएँ या बाएँ ही किया जाए, पीछे कभी भी नहीं।

भूमि का आकार और स्थिति

वास्तु-विद्या के अनुसार भूखंड (प्लॉट) 'सम-चतुष्कोण' हो, तो सबसे अच्छा। आयाताकार यानी लंबाई से चौड़ाई कम, या, चौड़ाई से लबाई कम हो तो भी अच्छा; पूर्व-पश्चिम में लम्बाई अच्छी, उत्तर-दक्षिण में लम्बाई कम अच्छी। वृत्ताकार (गोल) भूखंड भी अच्छा ही है। लेकिन वर्तुलाकार (स्पायरल) का निषेध है। राजा यदि चाहे, तो उसके लिए वर्तुलाकार भवन का विधान है। **त्रिकोण भूखंड सभी के लिए अशुभ है।**

दक्षिण में रिक्तस्थान न रखा जाए; कुछ रखना ही पड़े, तो उससे कम ज़रूर हो, जितना उत्तर में हो। —यह ऐसा नियम है, जो झोपड़ी से लेकर महल तक और कार्यालय से लेकर कारख़ाने तक सब पर लागू होता है। रिक्तस्थान पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में अधिक हो, तो शुभकारक होगा।

राजा, मंत्री, सेनापति, पुरोहित आदि की दृष्टि से और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की दृष्टि से भूखडों के आकार निर्धारित किए गए हैं। इसमें भी

ज्योतिष का समावेश किया गया है।

आज जनसंख्या के दबाव में भूखंड का आकार मनचाहा मिलना कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति में अनियमित आकारों को वास्तु-विद्या में और व्यावहारिक परपरा में जो छूट मिली है, उसका लाभ लिया जाए।

(इसीप्रकार बने-बनाए मकान बिकने का चलन होने से वास्तु-विद्या का यह नियम नहीं चल पाता कि किस दिशा में किस आकार का शयनकक्ष या रसोई या स्नानगृह आदि हो। ऐसी स्थिति में कम-से-कम इतना तो देख ही लिया जाए कि जो जहाँ-जैसा बना है, वह वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से सही है या नहीं; सही नहीं हो, तो वह मकान रहने योग्य नहीं माने।)

भूमि की शुद्धता : शल्य-शोधन यंत्र

प्रस्तावित भूमि को जोतने पर या ऊपर-ऊपर खोदने पर जो चीजें बाहर दिखने लगे, उनका सामुद्रिक शास्त्र से, शकुन-अपशकुन की दृष्टि से निरीक्षण किया जाए; शुभ वस्तुओं का फल शुभ होगा, अशुभ वस्तुओं का फल अशुभ होगा। खोपड़ी, हड्डी, चमड़ा, बाल, कोयला, राख, लोहा आदि अशुभ वस्तु, यानी **शल्य**, भूमि में कुछ गहराई पर भी हो सकती है, जिसे निर्माण-कार्य के प्रारभ मे खुदाई करके दूर कर देना चाहिए।

अशुभ वस्तुओं का पता लगाने के लिए, भूमि मे कहाँ-कहाँ खुदाई की जाए, —यह जानने के लिए, प्रस्तावित भूमि को नौ भागो मे विभक्त करके प्रत्येक को एक अक्षर का नाम दिया जाए, जैसा कि प्रस्तुत शल्य-शोधन यंत्र में दिया गया है।

एक पट्टी पर खड़िया से या सफेद चाक से यह मंत्र लिखा जाए. **"ओं ह्रीँ श्रीं ऐं नमो वाग्वादिनि, मम प्रश्ने अवतर-अवतर।"** —यह मत्र किसी कुमारी कन्या से तीन बार पढवाया जाए, तथा उस पर जल के छींटे दिए जाये। तब वह उस पट्टी को या एक नारियल विनय के साथ दोनों हाथो से लिए पूर्व दिशा मे मुँह करके खडी रहे। उस कन्या को वे नौ अक्षर नही बताए जाएँ, यह भी न बताया जाए कि किस भाग को किस अक्षर का नाम दिया गया है। अब उसे कोई

वायव्य ह	उत्तर स	ऐशान प
ए पश्चिम	मध्य ज	ब पूर्व
त नैर्ऋत्य	च दक्षिण	क आग्नेय

शल्य शोधन—यंत्र

एक अक्षर बोलने या लिखने को कहा जाए। उसका बोला या लिखा अक्षर उन नौ अक्षरों में से नहीं हो, तो समझना चाहिए कि उस भूमि मे कोई शल्य नहीं है; इसलिए खुदाई की भी ज़रूरत नहीं। यदि कन्या द्वारा बोला गया अक्षर उन नौ अक्षरों में हो, तो उस अक्षरवाले भाग की खुदाई की जाए। कोई शल्य नहीं निकले, तो भूमि-परीक्षा यहीं समाप्त की जाए और मान लिया जाए कि वह भूमि शल्य से साफ़-पाक है। यदि खुदाई में कोई शल्य मिले, तो उसे दूर करके उस कन्या से दूसरा अक्षर माँगा जाए। वह अक्षर उन नौ अक्षरों में न हो, तो समझ लिया जाए कि उस भूमि में अब कोई और शल्य नहीं है। वह अक्षर उन नौ अक्षरों में हो, तो अक्षरवाले भाग की खुदाई की जाए; शल्य न मिले तो खुदाई बंद की जाए, वरना कन्या से तीसरा अक्षरा माँगा जाए। हर बार शल्य मिलती जाए, तो नौ बार तक खुदाई करनी पड सकती है।

खुदाई के बाद भी शल्य के रह जाने की शंका हो, तो भूमि की जल की सतह तक खुदाईकर शंका दूर कर लेनी चाहिए। यहाँ तक कि निर्माता के पास भी कोई शल्य पदार्थ हो, तो उसे भी दूर कर देना चाहिए।

❑❑

दिशा का विवेक

भूमि के चयन में दिशा का महत्त्व

"दिशा बदलते ही दशा बदलती है", —यह कथन कई दृष्टियो से सार्थक है। वास्तु-विद्या मे भी दिशा या डायरेक्शन का बड़ा महत्त्व है। दिशाओं और उनके अधिष्ठाता देवो के नाम स्वस्तिकाकार[35] दिशा-सूचक यत्र में द्रष्टव्य हैं।

अधिष्ठाता का मतलब है—व्यावहारिक प्रधान; जो आज के महत, निदेशक और सुपरिंटेडेट का मिला-जुला रूप होता है। प्रत्येक दिशा का एक अधिष्ठाता देव होता है —यह पौराणिक मान्यता है। इस मान्यता में इतिहास और विज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा का भाव अधिक है। वास्तु-विद्या में अधिष्ठाता देवो की प्रकृति देखकर ही यह निर्धारित किया गया है कि किस दिशा मे क्या बनाया जाए? जैसे **आग्नेय** अर्थात् दक्षिण-पूर्व रसोईघर के लिए निर्धारित की गयी है, ताकि गर्मियों में दक्षिण-पश्चिम दिशा से चलने वाली हवा उसमे आग न भड़का सके।

दिशा का प्रकृति से तालमेल

प्रत्येक दिशा और विदिशा का प्रकृति के किसी एक रूप से विशेष संबंध है: उत्तर और ऐशान का जल से; पूर्व और आग्नेय का अग्नि से; दक्षिण और नैर्ऋत्य का पृथ्वी से; पश्चिम और वायव्य का वायु से। इसलिए भवन या कक्ष (कमरा) के उपयोग का तालमेल उसकी दिशा के प्रभावक तत्त्व से बैठाया जाए, ताकि प्रकृति उस उपयोग मे साधक बने, बाधक नहीं। प्रकृति का साधक बनना ही 'शुभयोग' या 'इष्टसिद्धि' है और बाधक बनना ही 'अशुभयोग' या 'अनिष्टसिद्धि' है।

प्रकृति की व्याख्या मे कमी-कहीं मतभेद दिख जाते है। उनसे पसोपेश मे पडे बिना वह मत (पथ) अपना लिया जाए, जिस पर महाजन चला करते हो: "महाजनो येन गतः स पन्थाः।"[25] किसी कवि ने ठीक ही लिखा है: 'ज्योतिष, तत्रशास्त्र, शास्त्रार्थ, वैद्यक और शिल्पशास्त्र में भावार्थ ग्रहण

करना चाहिए; शब्द पकड़कर नहीं बैठ जाना चाहिए।'[24]

शांतिदाय ऐशान दिशा

प्रकृति-चक्र का प्रस्थान-बिंदु है ऐशान। उसका प्रभावक तत्त्व है जल, जो शाति का प्रतीक है, इसीलिए ऐशान दिशा शातिदायक है। इस दिशा
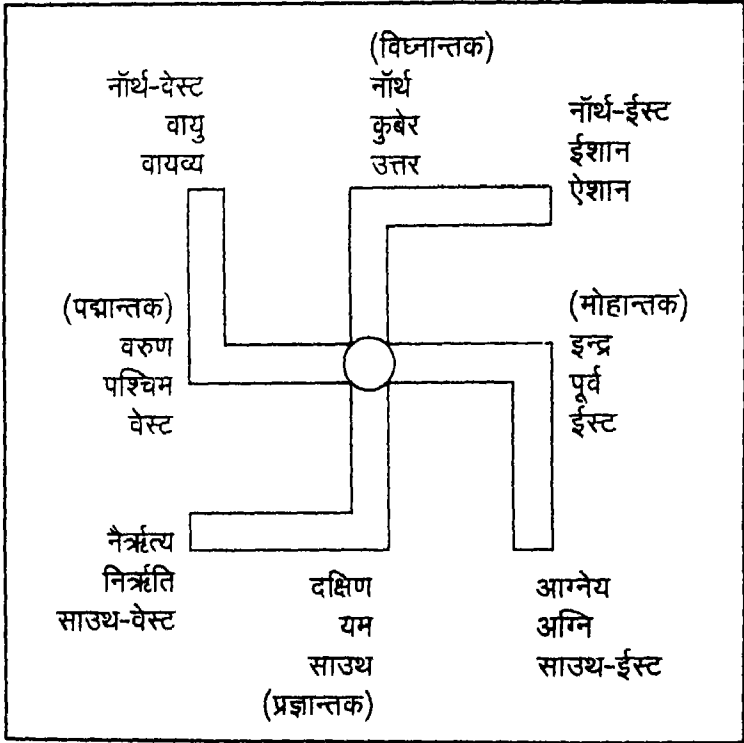
दिशा-बोधक यंत्र

का अधिष्ठाता है 'ईशान', जिसे शातिप्रदायक माना गया है। जैनदर्शन में 'तीर्थंकर'[37] शब्द भी 'शांतिप्रदायक' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। धर्म-चक्र के इन प्रवर्तको का स्थान, देवालय, इसीलिए ऐशान दिशा मे बनाया जाता है।

जल-ससाधन और उससे लगे हुए देवालय या पूजा-कक्ष के लिए **ऐशान** (उत्तर-पूर्व) का विधान है; क्योंकि पूर्व से उदित होते सूर्य की किरणें

जल को शुद्ध बनाए रखती हैं और स्नान तथा पूजा के लिए उपस्थित लोगों का तन-बदन प्रफुल्लित कर देती हैं, उन्हें विटामिन 'डी' भी देती हैं।

प्रकृति का सबसे बड़ा वरदान सूर्य है। उनका स्वागत करने के लिए ही मानों पूर्व या पूर्वोत्तर में सिंह-द्वार, प्रवेश-द्वार, अन्य द्वार तथा बहुत-सी खिड़कियाँ बनाने का विधान है। 'पूर्वोत्तर' यानी 'ऐशान' दिशा में भूमि (ग्राउंड लेवल) दक्षिण-पश्चिम की अपेक्षा नीची रखी जाए, ताकि सूर्य-किरणें अधिक-से-अधिक मात्रा में गृह-प्रवेश करके वातावरण को प्रदूषण से मुक्त कर सके।

वास्तव में प्रकृति का चक्र ही दक्षिणावर्त है, सूर्य का भ्रमण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, उसी के अनुकरण पर घड़ी चलती है, बिजली का पंखा चलता है; चक्कर काटनेवाली हर चीज दक्षिणावर्त चलती है, जब तक कि कोई विशेष व्यवस्था न की गई हो।

इसीलिए प्रायः सभी शुभ कार्य ऐशान दिशा में उन्मुख होकर करने से सफल होते हैं, उदाहरण के लिए चक्रवर्ती की विजय-यात्रा इसी दिशा से आरंभ होती है; इष्टदेव की परिक्रमा इसी दिशा से बरास्ता दक्षिण-पूर्व, आगे बढ़ती है, इसीलिए दक्षिणावर्त परिक्रमा को 'प्रदक्षिणा' भी कहते हैं।

दिशाओं के संबंध में व्यावहारिक नियम

ऐशान की भाँति अन्य दिशाओ के सदर्भ में भी जो नियम या चेतावनी या परामर्श हैं, वे सभी या तो प्रकृति को ध्यान में रखकर हैं या लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए हैं। इसलिए उनका पालन यथासभव अवश्य किया जाए। उनके पालन से कोई हानि होती दिखे, तो उनके पालन से होने वाले लाभ और हानि की तुलना कर ली जाए और लाभ की मात्रा अधिक दिखे, तो उनका पालन किया जाता रहे। इन नियमो की व्यावहारिकता के कुछ उदाहरण आगे वर्णित हैं।

घर में द्वार यथासंभव आमने-सामने हों, ताकि कड़ी (लिंटल) और छत ढालने में असुविधा से बचा जा सके। सीढ़ियाँ या ज़ीने का द्वार उत्तर या दक्षिण की ओर हो, तो अशुभ फल देगा; शौचालय (लेट्रिन) का द्वार पूर्व में हो, तो हानिकारक होगा इत्यादि।

प्रस्तावित भूमि का ढलान (नेचरल प्रोक्लिविटीज ऑफ द ग्राउन्ड) पूर्व की ओर हो। उस भूमि पर या उसके आसपास बहनेवाली नदी की दिशा

बायें से दायें होनी चाहिए। उसकी एक पुरुष की गहराई पर बहनेवाले जल की दिशा भी बायें से दायें होनी चाहिए। भूमि का मुख या मस्तक किस दिशा में होने पर किसे क्या फल देगा? —इस विषय पर वास्तु-विद्या में बहुत विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

शेषनाग-चक्र

उस भूमि पर प्रस्तावित निर्माण और उसके विभिन्न भागो की दिशा पर तो विचार किया ही गया है; यह भी विचार किया गया है कि निर्माण किस दिशा से शुरू किया जाए। उदाहरण के लिए शेषनाग-चक्र के अनुसार नींव आदि के लिए भूमि की खुदाई उस स्थान से शुरू नहीं की जाए, जहाँ नाग का अस्तित्व हो। यहाँ 'नाग' या 'शेषनाग' का कथन मात्र प्रतीकात्मक है। जैसे कि नाग के सिरभाग पर पैर रखने पर वह हानि नही पहुँचा सकता, जबकि अन्य कहीं पैर रखने पर वह काट लेता है। इसी प्रकार शेषनाग

शेषनाग-चक्र
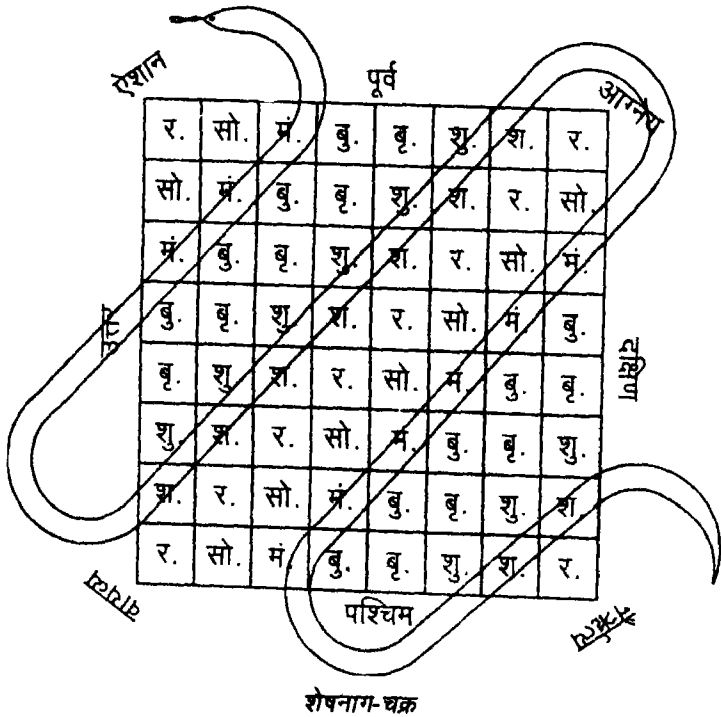
चक्र में भी नाग की आकृति के अनुसार उन स्थलों को छोड़कर ही 'खात' के नियमों के पालन करते हुए खुदाई करानी चाहिए।

वास्तव में 'खात' के लिये नियम ज्योतिष शास्त्र के अनुसार पालना चाहिए। आगे पृष्ठ सख्या चौंसठ पर 'खात' एवं 'शिलान्यास' के मुहूर्त की दिशा का ज्ञान कराया गया है, अतः तदनुसार ही वास्तु की खात-विधि करनी चाहिए।

इससे ज्ञात होता है कि दिशाओं के निर्धारण में ज्योतिष की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है; यही कारण है कि वास्तुविद्या के ज्ञान के लिए ज्योतिष का ज्ञान भी आवश्यक माना गया है।

वास्तुशास्त्र के कुछ चक्र तो इतने गूढ़ और कठिन हैं कि उन्हें समझने के लिए ज्यामिति का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। परतु अब दिशासूचक-यत्र या कुतुबनुमा (कंपास) तथा संगणक (कम्प्यूटर) के आविष्कार ने यह समस्या हल कर दी है।

❑❑

काल की शुद्धता

ज्योतिष की दृष्टि से काल-निर्णय

काल या समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, इसीलिए समयबद्ध कार्यक्रम बनाने की प्रथा चली होगी। कार्यक्रम अच्छी तरह सोच-समझकर बनाना और उसके अनुसार कार्य सपन्न करना चाहिए—इसी को 'काल की शुद्धता' कह सकते है; अन्यथा काल-जैसी अलख-निरजन वस्तु की क्या शुद्धता और क्या अशुद्धता? एक व्यावहारिक कार्यक्रम के निर्माण में व्यक्तिगत सुविधाओ, परिस्थितियों, अवसर, मौसम आदि का ध्यान रखा जाता है; इसमे अब कप्यूटर की सहायता भी ली जाने लगी है। इन्हीं आधारों पर सफलता या असफलता का अनुमान लगाकर कार्यक्रम को अतिम रूप दिया जाना चाहिये।

वास्तु-विद्या मे सभी प्रकार के निर्माणो की सफलता के लिए जो उपाय बताए गए हैं, उनमे द्रव्य और क्षेत्र की शुद्धता का स्थान तो उल्लेखनीय है ही, काल का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। इसकी विशेषता यह है कि निर्माण के आरभ से अत तक ज्योतिष का आश्रय लेकर ही मुहूर्त का निर्धारण किया गया है, जिसके पालन से शुभ फल मिलता है और उल्लघन से अशुभ फल मिलता है।

वास्तु-विद्या मे इस विधान से पूर्व कुछ चक्रों या चार्टों का विधान किया गया है, जिनमे ज्योतिष और ज्यामिति की प्रमुखता है। वत्स चक्र, वास्तुपुरुष चक्र, शेषनाग चक्र, वृष चक्र आदि उनमे प्रमुख हैं।

वत्स-चक्र द्वारा मुहूर्त का ज्ञान

जब सूर्य कन्या, तुला और वृश्चिक राशि मे स्थित हो, तब वत्स का मुख पूर्व दिशा मे रहता है तथा जब सूर्य धन, मकर और कुभ राशि मे स्थित हो; तब दक्षिण दिशा मे रहता है। जब सूर्य मीन, मेष और वृष राशि मे स्थित हो; तब पश्चिम दिशा मे रहता है, तथा जब सूर्य मिथुन, कर्क और सिह राशि मे स्थित हो; तो उत्तर दिशा में रहता है।

मकान या राजमहल की भूमि की प्रत्येक दिशा में सात भाग मानकर प्रत्येक भाग एक निश्चित राशि को नामित किया जाए। उस राशि में वत्स जितने दिन रहता है, उतनी संख्या उस भाग में मानी जाए। जिस दिशा में वत्स का मुख हो उस दिशा मे नींव की खुदाई, गृह-प्रवेश आदि शुभ कार्यों का निषेध है। वत्स का मुख प्रत्येक दिशा मे तीन माह तक रहता है। इतने लबे समय तक शुभ कार्य रोके रखना सभव न हो, तो यहाँ बने वत्स-चक्र के अनुसार कार्यारम्भ किया जा सकता है।

5 मिथुन	मिथुन 10	15 मिथुन	कर्क 30	15 सिंह	सिंह 10	5 सिंह
5 वृष	वायव्य		उत्तर		ऐशान	5 कन्या
10 वृष						10 कन्या
15 वृष						15 कन्या
30 मेष	पश्चिम				पूर्व	30 तुला
15 मीन						15 वृश्चिक
10 मीन						10 वृश्चिक
5 मीन	नैर्ऋत्य		दक्षिण		आग्नेय	5 वृश्चिक
कुम्भ 5	10 कुम्भ	कुम्भ 15	30 मकर	धनुस् 15	10 धनुस्	धनुस् 5

वत्स-चक्र

सूर्य जिस दिशा मे स्थित हो, उसके उदय में उतने दिन उस भाग मे कार्यारम्भ नहीं किया जाए। उदाहरण के लिए जब पूर्व दिशा मे सूर्य कन्या राशि मे हो, तो पॉच दिन तक प्रथम भाग मे कार्यारम्भ न किया जाए, दूसरे भागो मे अच्छा मूहूर्त देखकर कार्यारम्भ किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य भागो में भी किया जाए।

भाव की शुद्धता

आचार-विचार और भावों की शुद्धता

द्रव्य, क्षेत्र और काल की शुद्धता का महत्त्व है, किंतु उससे अधिक महत्त्व है भाव की शुद्धता का, आचार-विचार की पवित्रता का।[38] वास्तु-विद्या के अतर्गत किसी भी प्रकार का निर्माणकार्य हो, वह निर्माता की रीति-नीति को प्रभावित कर सकता है, उसके आगामी जीवन को नया मोड़ दे सकता है।

भावो की शुद्धता यानी आचार-विचार की पवित्रता निर्माता को अनैतिक या अवैध कार्य से रोकती है, जिससे उसमे आत्म-विश्वास का सचार होता है। अवैध निर्माण करके कोई भी व्यक्ति निर्भय-निश्चित नही रह सकता, जिसके फलस्वरूप उसकी प्रगति मे रुकावट आती है।

निर्माण-कार्य मे निर्माता के तन-मन-धन लगते है। तन-मन-धन शुद्ध होगे, तो निर्मित मकान आदि भी शुद्ध होगा यानी शुभ फल देगा;[39] वरना अशुभ फल देगा। आचार-विचार की पवित्रता ही निर्माता का वह बल है, जिसके द्वारा वह स्थपति आदि कारीगरो और मजदूरो से यथोचित काम ले सकेगा।

कारीगरों की निष्ठा

इसीप्रकार निर्माण-कार्य मे लगे मजदूर, कारीगर आदि कुशल और ईमानदार तो हो ही, सदाचारी भी हो; क्योकि उनके सदाचार-दुराचार का असर उनके खून-पसीने से बने निर्माण पर अवश्य पडता है, जिसका फल निर्माता को मिलता है। मजदूरो, कारीगरो आदि के आचार-विचार की जॉच कुछ कठिन तो है, फिर भी वह बहुत जरूरी है।

वास्तु-विद्या मे कारीगर चार श्रेणियो मे रखे गए है: 1. स्थपति या सूत्रधार यानी मुख्य आर्किटेक्ट, 2. सूत्रग्राही (सूत्रधार) का मतलब है इजीनियर या ड्राफ्ट्समैन, जो नक्शे, ले-आउट-प्लान, रेखाचित्र आदि बनाता है, 3 तक्षक, लकडी, पत्थर आदि को आवश्यक आकार मे तराशता

है; और 4. वर्धकि उन पर देवों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों, फूल-पत्तियों आदि की आकृतियाँ उकेरता है और लकड़ी का काम, भीतरी साज-सज्जा आदि करता है।

साहित्य मे अनेक स्थपति आदि कारीगरो के नाम उल्लिखित हुए हैं। सैकड़ों शिलालेखो में उन्होंने अपने नाम उत्कीर्ण कर दिये हैं। ऐसे लगभग एक सौ कारीगरों के नाम डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने सकलित किए हैं, जिनमें अनेक जैन थे।

वास्तु-विद्या मे स्थपति की जॉच पर बहुत बल दिया गया है, क्योकि वह निर्माता की रुचि और विचारों को मदिर, मकान आदि के रूप मे साकार करता है; निर्माता के धन को अधिक-से-अधिक सार्थक करता है; सभी कारीगरो, मजदूरों आदि से विधिवत् काम लेता है। उसमे चार मुख्य गुण अवश्य होने चाहिए: **शास्त्रज्ञान, कार्यकुशलता, प्रज्ञा** और **शील**।

स्थपति के गुण

शास्त्रज्ञान स्थपति का पहला गुण है। गणित, ज्योतिष, प्रतिष्ठा, पुराण आदि के ज्ञान से वास्तु-विद्या को पूर्णता मिलती है; इसलिए उसका शास्त्रज्ञान जितना विस्तृत और गभीर होगा; वह उतना ही शास्त्रानुकूल, सुदृढ, सुंदर, सुविधा-सम्पन्न निर्माण कर सकेगा।

कार्य-कुशलता यानी काम करने-कराने की कला भी स्थपति का मुख्य गुण है। निर्माण को निर्धारित बजट मे, योजना के अनुसार, ठीक समय पर सपन्न कराने का दायित्व स्थपति का होता है। इस दृष्टि से स्थपति की तुलना सेनापति से की गई है। स्थपति के कार्यो और दायित्वो की व्याख्या वास्तु-विद्या मे बहुत विस्तार से की गई है।

प्रज्ञा का अर्थ है प्रतिभा या टेलेट, कल्पना-शक्ति या विजन। यह वह गुण है, जिसके बिना कोई भी स्थपति असफल ही रहेगा। प्रज्ञावान् स्थपति निर्माण मे वह आकर्षण पैदा करता है, जो खिलते-महकते फूल मे होता है।

शील अर्थात् सदाचार के बिना अच्छे-से-अच्छा स्थपति वैसा ही है, जैसे समुद्र का जल। अपने निर्माता के प्रति निष्ठा, वफ़ादारी, ईमानदारी, दायित्व की भावना, कार्य-कुशलता आदि गुणो का विकास शील के शुद्ध वातावरण में ही सभव है। निर्माता के साथ स्थपति तभी चल सकता है, जब वह शीलवान् हो। उसके खून-पसीने मे सदाचार होगा, तो उसके द्वारा

निर्मित मकान में रहनेवाले भी सदाचारी होंगे। उसके खून में दुराचार होगा; तो वह जो भी निर्माण करेगा, वह दुराचार का अड्डा बन जाएगा। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि स्थपति के रूप मे वही व्यक्ति नियुक्त किया जाए, जिसका शील देख-परख लिया गया हो।

स्थपति आदि का सम्मान

निर्माण के आरम्भ और अंत में सभी कारीगरो का यथोचित सम्मान किया जाना चाहिये। स्थपति अर्थात् सूत्रधार के सम्मान का विधान 'प्रासाद-मंडन' में अत्यंत मार्मिक शब्दों मे किया गया है: निर्माण-कार्य से जो पुण्य सूत्रधार ने कमाया, उसे वह पुण्य गृहस्वामी माँगे; जिसके उत्तर मे सूत्रधार कहे कि "स्वामिन् ! आपका यह निर्माण अक्षय रहे, यह मकान आज तक मेरा था; अब आज से आपका हुआ।"

निर्माण के पश्चात् भूमि, धन, वस्त्र, अलकार आदि भेट करके सूत्रधार का सम्मान किया जाए। अपनी क्षमता के अनुसार वस्त्र, पान और भोजन से अन्य शिल्पियो और कारीगरों का भी सम्मान किया जाए। लकडी और पत्थर के कारीगर जिस मकान मे भोजन करते है, उसमें गृहस्वामी सुख से रहता है। साथ ही उन सभी व्यक्तियों का भी सम्मान-सत्कार किया जाए, जिनका किसी भी प्रकार का सहयोग इस निर्माण मे मिला हो।

प्रतिष्ठाचार्य का सम्मान

भूमिशोधन, निर्माण के शुभारम्भ एवं गृहप्रवेश आदि के अवसर पर पूजा-पाठ करानेवाले प्रतिष्ठाचार्य[40] के सम्मान की प्रेरणा भी वास्तुग्रन्थो मे दी गई है। 'प्रतिष्ठा-सारोद्धार' मे पडित आशाधर जी के शब्द इस सदर्भ में अत्यत मार्मिक है: "प्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठाचार्य को लेने शुभ मुहूर्त में यजमान उसके घर भाई-बंधुओ के साथ जाए, जिनके आगे अक्षत-भरे थाल लिए महिलाएँ मंगल-गान करती हुई चल रही हों।" तथा प्रणाम करके यजमान उससे कहे कि "मैने न्याय से उपार्जित धन बचाकर रखा-बढ़ाया है, उसे अरिहन्त की पूजा मे लगाकर परम पुण्य प्राप्त करना चाहता हूँ। यह कार्य कितना महान् है और मै कितना तुच्छ हूँ ! अब तो आप जैसे सिद्धहस्त योग्य प्रतिष्ठाचार्य का ही सहारा है। आपकी योग्यता जाँची-परखी है, आपकी कार्य-शैली कई बार देखी-समझी है, आपके परोपकारो का वर्णन मैं कैसे कर सकता हूँ? आप औरों की इष्ट-सिद्धि करते है, सो

मुझ पर भी कृपा करें।"

'प्रासाद-मण्डन' के शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं : "वस्त्र, स्वर्ण और धन से आचार्य का सम्मान करके ब्राह्मणों, दीनों, अंधो, और दुर्बलों को दान किया जाए; धम सभी प्राणियो के जीवन का सबसे बड़ा आधार है; धन दिए जाने पर मनुष्य सतुष्ट होते है।"

'प्रासाद-मंण्डन' से भी पाँच सौ वर्ष पूर्व 'गोम्मटसार' (जीवकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती ने 'मनुष्य' की परिभाषा के अतर्गत जो लिखा है, वह इस प्रसग में विशेषरूप से उल्लेखनीय है:[41] "सभी मनुष्य 'मनुष्य' इसलिए कहे गए हैं; क्योकि वे 1. कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद मानते है, जो ज्ञान-वास्तु का प्रतीक है, 2. विविध विद्याओं एव शिल्प आदि मे निपुण होते है, जो शब्द-वास्तु का प्रतीक है, 3. अवधान आदि मानसिक कार्यो मे सलग्न होते है, जो अर्थ-वास्तु का प्रतीक है, और 4. मनु के वशज है, जो द्रव्य-वास्तु का प्रतीक है।"

❑❑

निर्माण-कार्य की रूपरेखा

लेआउट प्लान : रेखा-चित्र और नक़्शा

कार्यक्रम के अनुसार मकान या मदिर का लेआउट प्लान और नक़्शा बना लिया जाए। 'लेआउट' यानी पद-विन्यास के रेखांकन में वास्तु-विद्या के साथ ज्योतिष, गणित, लोक-व्यवहार आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। वास्तु-विद्या मे ऐसी कई परपराएँ प्रचलित हैं, यथा—शेषनाग-चक्र, वास्तुपुरुष-मंडल, वृषवास्तु-चक्र आदि।

इन विभिन्न चक्रो के माध्यम से निम्नलिखित इक्कीस अगों के शुभ-अशुभ फल पर विचार किया जाए: क्षेत्रफल, आय, नक्षत्र, गण, दिशा, वैर, व्यय, तारा, नाडी, राशि, स्वामी, गृहनाम, अश, लग्न, तिथि, वार, करण, योग, वर्ग, तत्त्व और आयु।

ये सब[42] वास्तव में[43] नुस्खे या फार्मूले हैं, जिनसे यह जाना जाता है कि गृहस्वामी, स्थपति आदि मकान या मंदिर का कौन-सा भाग कहाँ, कब, किस तरह बनाएँ; ताकि उन्हे अशुभ नहीं, बल्कि शुभ फल मिले। ये नुस्खे आवश्यकता पडने पर निर्णायक भूमिका भी निभाते है।

ये नुस्खे गूढ हैं और आधुनिक निर्माताओ को अव्यावहारिक भी लग सकते है, तथापि इनकी उपयोगिता है, क्योकि 1. इन्हे वास्तु-विद्या के आचार्यों ने लबे अनुभव के आधार पर लिखा है, 2. इनमे ज्योतिष, गणित आदि का समावेश है, जो वैज्ञानिक विद्याएँ है, 3. इनके पालन से शुभ फल और उल्लघन से अशुभ फल मिलते हुए देखे गए है, 4. 'वत्थु-सार-पयरण' में विशेषरूप से लिखा है कि "जैसे कन्या और वर की कुडली का मिलान किया जाता है, वैसे ही गृहस्वामी और गृह-भूमि की राशि आदि का मिलान भी किया जाना चाहिए।" इनका पालन करते हुए भी आधुनिक वैज्ञानिक रीति-नीति अपनाई जा सकती है।

वास्तु-पुरुष मंडल

वास्तुपुरुष-मडल से मकान या मदिर के अधिष्ठान (चौकी), स्तभ, प्रस्तार, कर्ण, स्तूपी, शिखर आदि भागो की आनुपातिक संयोजना मे

सहायता मिलती है। इससे संकेत मिलता है कि **वास्तु-पुरुष के केश, मस्तक, हृदय, नाभि आदि मर्म-स्थान जहाँ पड़ते हों, वहाँ स्तंभ नहीं बनाया जाए।**

मकान या मंदिर की भूमि (मंडल) पर पेट के बल (अधोमुख), या पीठ

दौवारिक नैर्ऋत्य	सुग्रीव	पुष्पदंत	वरुण	असुर	शोष	रोग	नाग वायव्य
मृष	इंद्रराज इंद्र	पुष्पदत	वरुण	असुर	शोष	रूद्रराज रूद्र	मुख्य
भृंगराज	भृंगराज	विवस्वत्	विवस्वत्	मित्र	मित्र	भल्लाट	भल्लाट
गंधर्व	गधर्व	विवस्वत्	ब्रह्मन्		मित्र	कुबेर	कुबेर
यम	यम	आर्य			भूधर	मृगदेव	मृगदेव
राक्षस	राक्षस	आर्य	आर्य	भूधर	भूधर	अदिति	अदिति
वितथ	सावित्र सविंद्र	भृशदेव	सत्यक	इंद्र	भास्कर	आपवत्स आप	उदीति
पूषन् आग्नेय	अंतरिक्ष	भृशदेव	सत्यक	इंद्र	भास्कर	जयंत	पर्जन्य ईशान

वास्तु-पुरुष मडल (अधोमुख)

के बल (ऊर्ध्व-मुख), एक विशेष मुद्रा में लेटे हुए रेखांकित पुरुष – 'वास्तु-पुरुष' की परिकल्पना[18] का मूलस्रोत शोध का विषय है; परंतु उससे बहुत पहले 'लोकपुरुष' की अनूठी परिकल्पना जैनशास्त्रकार लिपिबद्ध कर चुके थे। 'पुराण-पुरुष' के रूप में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ किंवा आदि-ब्रह्मा की प्रसिद्धि समूचे भारतीय साहित्य मे है। 'कालपुरुष', 'तुलापुरुष', 'लौहपुरुष', 'महापुरुष' आदि की परिकल्पनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

आयादि-षड्वर्ग ('वत्थु-सार-पयरण' से)

आय, नक्षत्र, राशि, व्यय, अश और तारा—ये छह मुद्दे ही 'आयादि-षड्वर्ग' है। 'विश्वकर्म-प्रकाश' नामक ग्रंथ की व्यवस्था इस सदर्भ में महत्त्वपूर्ण है. "जिस घर की लंबाई ग्यारह हाथ से अधिक बत्तीस हाथ तक हो; उसमें आयादि का विचार करना चाहिए। जो घर इससे अधिक लंबा हो, टूटा-फूटा हो, घास-फूस का बना हो; उसमें आयादि का विचार अनावश्यक है।" 'वत्थुसार-पयरण' में एक उदाहरण देकर कहा गया है कि "जिसप्रकार वधू और वर मे परस्पर प्रेम-प्रीति होनी चाहिए; उसीप्रकार गृह और गृहस्वामी के नक्षत्र, राशि आदि का मिलान अत्यंत आवश्यक है।"

प्रस्तावित भूमि की अंगुलों (लगभग एक इंच) मे लंबाई से चौडाई का गुणा करके गुणनफल में आठ का भाग दिया जाए, क्योकि 'आय' आठ प्रकार के होते हैं। भाग देने पर जो सख्या शेष बचे, उसी के क्रमांक का आय उस भूमि का माना जाए। जैसे भूमि की लंबाई 177 अगुल × चौडाई 127 अगुल =22479 अंगुल क्षेत्रफल; जिसमे 8 का भाग देने पर 7 शेष बचे, इसलिए सातवें क्रमांक का आय—'गज' (हाथी) माना जाए। आठ आय और उनकी दिशाएँ हैं: ध्वज-पूर्व, धूम्र-आग्नेय, सिह-दक्षिण, श्वान-नैर्ऋत्य, वृष-पश्चिम, खर-वायव्य, गज-उत्तर, कौआ-ऐशान। इन आयों में **ध्वज, सिंह, गज और वृष 'आय' शुभ हैं, शेष चारों अशुभ हैं।**

उक्त गुणनफल में नक्षत्रों की संख्या 'सत्ताईस' का भाग देने पर जो शेष बचे, उसके क्रमांक का नक्षत्र समझा जाए। उदाहरण के लिए उक्त गुणनफल 22479 मे 27 का भाग देने पर 12 शेष बचे, इसलिए बारहवे क्रमाक का नक्षत्र 'उत्तरा-फाल्गुनी' माना जाए।

नक्षत्र के सदर्भ मे जो क्रमांक आए, उसमे चार गुणा करने पर आए गुणनफल मे राशियो की संख्या नौ का भाग दिया जाए; जो लब्धि (भागफल) आए, वह उसके क्रमांक की राशि मानी जाए। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त नक्षत्र का क्रमाक 12 × 4 = 48 ÷9 लब्धि हुई 5; इसलिए पाँचवे क्रमांक की राशि 'सिह' हुई (यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता)।

नक्षत्र के संदर्भ में आए क्रमाक 12 मे व्ययों की संख्या 8 का भाग देने पर शेष बचा 4; इसलिए चौथा व्यय 'क्षय' माना जाए। व्यय की यह संख्या, 4 उपर्युक्त आय की संख्या 7 से कम है, इसलिए यह शुभ है; क्योंकि आय

से व्यय कम ही होना चाहिए। इस प्रसंग में एक बहुत ही मनोरंजक किंतु सटीक उदाहरण दिया जा सकता है 'कमंडलु' का; जिसमें जल की आय का मुख बड़ा और जल के व्यय की टोंटी छोटी होती है; इसीलिए कहना होगा कि "कमंडल में भूमंडल का अर्थशास्त्र छिपा है।"

भूमि के क्षेत्रफल 22479 में उस मकान (की जाति या प्रकार) के अक्षरो की संख्या जोड़ी जाए, जो उस भूमि पर निर्मित हो रहा है। माने लें उस मकान की जाति हैं 'विजय', इसलिए 3 अंक जोड़ने पर संख्या हुई 22482; इसमें 4 की संख्या भी जोड़ी जाए, क्योंकि आयादि-षड्वर्ग में व्यय का स्थान चौथा है; तब योग हुआ 22482+4=22486; इसमें अंशों की संख्या 3 का भाग देने पर शेष बचा 1; इसलिए पहले क्रमांक का अंश 'इंद्र' माना जाए।

'तारा' जानने के लिए उपर्युक्त नक्षत्र 'उत्तरा फाल्गुनी' से गृहस्वामी के नक्षत्र 'रेवती' तक गिनने पर 16 की संख्या आती है; उसमें तारा-संख्या 9 से भाग देने पर शेष बचा 7; इसलिए सातवें क्रमाक की तारा मानी जाए।

गृह और गृहस्वामी की राशि आदि का मिलान

गृह और गृहस्वामी की योनि, गण, राशि, तारा और नाडी का मिलान जन्म-नक्षत्र से होना आवश्यक है। जन्म-नक्षत्र का ज्ञान न हो, तो गृहस्वामी के प्रसिद्ध नाम या बोलचाल के नाम से जो नक्षत्र आता हो, उससे मिलान किया जाए।

गृह का नाम उसके आकार-प्रकार के अनुसार वास्तु-विद्या में जो निर्धारित हो; उसका प्रयोग किया जाए; निर्धारित न हो सके, तो जो नाम उस गृह का प्रचलित हो, उसका प्रयोग किया जाए। या फिर अपनी पसंद का कोई भी नाम रखकर उसी से गृहस्वामी के नक्षत्र से मिलान किया जाए।

मंदिर और गृहस्वामी के नक्षत्र से मिलान करना हो, तो मंदिर का वह नाम माना जाए, जो उसके मूलनायक का हो; अर्थात् मंदिर में मुख्य-मूर्ति जिस तीर्थंकर की हो, उसी के नाम से वह मंदिर प्रसिद्ध होता है। उदाहरणस्वरूप किसी मंदिर में यदि आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा मूलनायक के रूप में विराजमान है, तो उस मंदिर का नामकरण 'आदिनाथ स्वामी दिगंबर जैन मंदिर' —इस तरह से किया जायेगा। इस मिलान में यह तालिका सहायक होगी:

राशि, योनि, नाडी, गण आदि जानने की तालिका

सं.	नक्षत्र	अक्षर	राशि	वर्ण	वश्य	योनि	राशीश	गण	नाडी
1.	अश्विनी	चू चे चो ला	मेष	क्षत्रिय	चतुष्पद	अश्व	मंगल	देव	आद्य
2.	भरणी	ली लू ले लो	मेष	क्षत्रिय	चतुष्पद	गज	मंगल	मनुष्य	मध्य
3.	कृतिका	अ इ उ ए	1 मेष 3 वृष	1 क्षत्रिय 3 वैश्य	चतुष्पद	बकरा	1 मंगल 3 शुक्र	राक्षस	अन्त्य
4.	रोहिणी	ओ वा वी वु	वृष	वैश्य	चतुष्पद	सर्प	शुक्र	मनुष्य	अन्त्य
5.	मृगशिर	वे वो का की	2 वृष 2 मिथुन	2 वैश्य 2 शूद्र	2 चतुष्पद 2 मनुष्य	सर्प	2 शुक्र 2 बुध	देव	मध्य
6.	आर्द्रा	कु घ ङ छ	मिथुन	शूद्र	मनुष्य	श्वान	बुध	मनुष्य	आद्य
7.	पुनर्वसु	के को हा ही	3 मिथुन 1 कर्क	3 शूद्र 1 ब्राह्मण	3 मनुष्य 1 जलचर	मार्जार	3 बुध 1 चंद्र	देव	आद्य
8.	पुष्य	हु हे हो डा	कर्क	ब्राह्मण	जलचर	बकरा	चंद्र	देव	मध्य
9.	आश्लेषा	डी डु डे डो	कर्क	ब्राह्मण	जलचर	मार्जार	चद्र	राक्षस	अन्त्य
10.	मघा	मा मी मु मे	सिह	क्षत्रिय	वनचर	चूहा	सूर्य	राक्षस	अन्त्य
11.	पूर्वा-फाल्गुनी	मो टा टी टु	सिंह	क्षत्रिय	वनचर	चूहा	सूर्य	मनुष्य	मध्य
12.	उत्तरा-फाल्गुनी	टे टो पा पी	1 सिंह 3 कन्या	1 क्षत्रिय 3 वैश्य	1 वनचर 8 मनुष्य	गाय	1 सूर्य 3 बुध	मनुष्य	आद्य
13.	हस्त	पु षा ण ठ	कन्या	वैश्य	मनुष्य	भैंस	बुध	देव	आद्य
14.	चित्रा	पे पो रा री	2 कन्या 2 तुला	2 वैश्य 2 शूद्र	मनुष्य	बाघ	2 बुध 2 शुक्र	राक्षस	मध्य
15.	स्वाति	रु रे रो ता	तुला	शूद्र	मनुष्य	भैंस	शुक्र	देव	अन्त्य
16.	विशाखा	ती तु ते तो	3 तुला 1वृश्चिक	3 शूद्र	3 मनुष्य 1 ब्राह्मण	बाघ 1 कीट	3 शुक्र 1 मगल	राक्षस	अन्त्य
17.	अनुराधा	ना नी	वृश्चिक	ब्राह्मण	कीट	हरिण	मंगल	देव	मध्य

	नु ने							
18. ज्येष्ठा	नो या यी यु	वृश्चिक	ब्राह्मण	कीट	हरिण	मंगल	राक्षस	आद्य
19. मूल	ये यो भा भी	धन	क्षत्रिय	मनुष्य	श्वान	गुरु	राक्षस	आद्य
20. पूर्वाषाढ़ा	भु धा फ ढा	धन	क्षत्रिय	मनुष्य चतुष्पद	वानर	गुरु	मनुष्य	मध्य
21. उत्तरा– षाढ़ा	भे भो जा जी	1 धन 3 मकर	1 क्षत्रिय 3 वैश्य	चतुष्पद	नेवला	1 गुरु 1 शनि	मनुष्य	अन्त्य
22. श्रवण	खी खू खे खो	मकर	वैश्य	चतुष्पद जलचर	वानर	शनि	देव	अन्त्य
23. घनिष्ठा	गा गी गु गे	2 मकर 2 कुंभ	2 वैश्य 2 शूद्र	2 जलचर 2 मनुष्य	सिंह	शनि	राक्षस	मध्य
24. शतभिषा	गो सा सी सु	कुंभ	शूद्र	मनुष्य	अश्व	शनि	राक्षस	आद्य
25. पूर्वा– भाद्रपदा	से सो दा दी	3 कुंभ 1 मीन	3 शूद्र 1 ब्राह्मण	3 मनुष्य 1 जलचर	सिह	3 शनि 1 गुरु	मनुष्य	आद्य
26. उत्तरा– भाद्रपदा	दु थ झ ञ	मीन	ब्राह्मण	जलचर	गाय	गुरु	मनुष्य	मध्य
27. रेवती	दे दो चा ची	मीन	ब्राह्मण	जलचर	गज	गुरु	देव	अन्त्य

❑❑

आवास-गृहों के लक्षण

आवास-गृहों के सामान्य लक्षण

वही घर शोभावर्धक और ऋद्धिदायक होता है, जिसके सभी अंग पुरुष के अंगों की भाँति सपूर्ण भी हो, अनुपात मे हो और शुद्ध भी हों। घर पीछे चौड़ा और आगे कम चौड़ा, तथा पीछे ऊँचा और आगे कम ऊँचा होना चाहिए। इससे घर अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहेगा और व्यक्तिगत गतिविधियाँ (प्राइवेसीज़) कम-से-कम उजागर हो सकेगीं; सामने मार्ग-सबंधी औपचारिकताओं मे कम स्थान घिरेगा, जिससे रहने को अधिक स्थान मिल सकेगा।

घर के आकार की तुलना गोमुख, बैलगाडी और सूप (अनाज फटकने का सूपा) से की गई है; क्योकि ये तीनो भी पीछे चौड़े और आगे कम चौड़े होते हैं। घर के संदर्भ मे घर-गृहस्थी की इन चीजों का उदाहरण मनोरंजक तो है ही, मनोवैज्ञानिक भी है। गाय एक सरल-सहज प्राणी है, जैसा कि एक सद्गृहस्थ या सद्गृहिणी को होना चाहिए। वैसे भी गाय का महत्त्व प्राचीनकाल से रहा है, सिधु घाटी की सभ्यता मे भी गो-पालन होता था। वास्तु-विद्या मे गाय का यह उदाहरण इतिहास और समाजशास्त्र की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। दुकान, इनके विपरीत, आगे चौडी और ऊँची हो, मध्य मे तथा पीछे समान हो।

घर का मुख्य द्वार पूर्व दिशा में हो। चूँकि पूर्व दिशा को मगलमय माना गया है अतः मुख्यद्वार पूर्वमुख रखने का विधान वास्तुशास्त्र मे सबसे शुभ माना गया है। फिर देखा जाए कि घर की या उसकी भूमि की ऊँचाई-निचाई बराबर है या नहीं। **पूर्व में ऊँचाई होने पर धन-हानि, दक्षिण में ऊँचाई होने पर समृद्धि, पश्चिम में ऊँचाई होने पर धन-धान्य आदि की वृद्धि और उत्तर में ऊँचाई होने पर बरबादी होने की संभावना रहती है।**

घर या देवालय का जीर्णेद्धार करते समय ध्यान रहे कि मुख्यद्वार जरा भी इधर-उधर या परिवर्तित न किया जाए; वह जिस दिशा मे जिस स्थान पर, जिस नाप का हो, उसी दिशा में, उसी स्थान पर और उसी नाप का

रखा जाए।

घर के सामने अरिहंत जिनदेव की दृष्टि या दाँया भाग हो, तो कल्याण होगा। इसके विपरीत होने पर घर हानिकारक हो सकता है; परतु बीच मे मुख्य रास्ता आता हो, तो वह दोष नहीं माना जाए। घर के सामने जिनदेव की पीठ हानिकारक है।

घर की साज-सज्जा का प्रावधान भी रखा जाए। फलवाले वृक्ष, पुष्पों की लता, सरस्वती देवी, नौ निधियों के साथ लक्ष्मी देवी, कलश, स्वस्तिक आदि मागलिक चिह्न, शुभ स्वप्नों के चित्र घर की शोभा बढ़ाते है।

आवास-गृह और वृक्ष

पर्यावरण की दृष्टि से घर में और उसके आसपास पेड़-पौधे हों, —यह वांछनीय है। परतु वास्तु-शास्त्र मे कुछ वृक्षों से दूर रहने का परामर्श दिया गया है। **कपित्थ (कैंथ), कदम्ब, केला, बिजौरा[45], नींबू, अनार, जंभीरी, आक, इमली, बबूल, बेर और पीले फूलवाले वृक्ष घर में नहीं बोना चाहिए।** सभवतः आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार यह परामर्श दिया गया है। इन वृक्षो की जडे जिस घर में घुसी हो, यहाँ तक कि इन वृक्षों की छाया जिस घर पर पड़ती हो; वह घर पूरे कुल को बरबाद कर सकता है। किंतु तुलसी का पौधा घर मे अवश्य लगाना चाहिए।

जो सूखा हुआ, टूटा हुआ, श्मशान के साथ स्थित हो, जिस पर पक्षियो के घोसले हो, जिसे काटने से दूध निकलता हो, जो बहुत लबा हो-ऐसा वृक्ष तथा नीम और बहेडा आदि वृक्ष घर बनाने के लिए काटकर नहीं लाएँ, क्योकि ये आयुर्वेद की दृष्टि से हानिकारक हो सकते है, धार्मिक दृष्टि से अशुभ एव हिसावर्धक माने जाते हैं तथा इमारती कार्य के लिए कमजोर सिद्ध होते है।

घर के पास स्थित **कँटीले वृक्ष भयकारक, दूधवाले वृक्ष लक्ष्मीनाशक और फलवाले वृक्ष संतान-घातक होते हैं।** घर के पास से ये वृक्ष हटा दिए जाएँ या फिर उनके पास पुनाग (नागकेसर), अशोक, रीठा, बकौली, कठहल, शमी, शाल आदि सुगधित वृक्ष बो दिये जाएँ; ताकि उनका दोष शात हो जाए। गूलर, पीपल, ऊमर, कटूमर, पलाश आदि वृक्षों (फिग ट्रीज़) की लकड़ी भी घर मे नहीं लगानी चाहिये, क्योकि वह ठोस नहीं होती है। **घर में ऐसी लकड़ी का उपयोग कभी नहीं करना चाहिए, जिसका**

उपयोग हल, कोल्हू, गाड़ी, अरहट आदि में किया जा चुका हो। गूलर, पीपल, ऊमर, कठूमर, पलाश आदि वृक्षों की लकड़ी भी घर में नहीं लगानी चाहिए; क्योंकि इनसे बनी चीजें टिकाऊ नहीं होतीं हैं।

सात प्रकार के वेध-दोषों से बचाव

जिस भूखड पर घर बनाया जा रहा है, उस पर या उसके आसपास भूमि के नीचे या ऊपर कोई दोष हो; तो वह दूर करके ही निर्माण-कार्य का आरंभ किया जाए। घर की ऊँचाई से दोगुनी भूमि छोड़कर कोई दोष हो, तो कोई बात नहीं। सस्कृत में 'वेध' के नाम से परिचित ये दोष सात प्रकार के हो सकते हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है:—

1. भूमि कहीं समतल और कहीं ऊबड-खाबड़ हो, घर के सामने तेल निकालने या गन्ना पेलने का कोल्हू या अरहट हो, कुआँ या कुएँ को जाने का रास्ता हो; तो 'तल-वेध' नामक दोष होता है। इसका फल है कुष्ठ और मिर्गी रोग।
2. घर के कोने बराबर न हो, तो 'कोण-वेध' नामक दोष होगा। इसके फलस्वरूप उच्चाटन हो सकता है अर्थात् गृहस्वामी अपने पद या स्थान से हटाया जा सकता है।
3. एक ही खड (मंज़िल) की विभिन्न कडियाँ ऊँची-नीची होने पर 'तालुवेध' होगा। इसमें किसी भी समय घर गिरने का भय बना रहेगा।
4. द्वार के ऊपर की पटरी (सिरदल या चौखट) के बीचोंबीच कोई कड़ी (लिंटल) रखी जाए, तो 'शिरोवेध' या 'कपाल-वेध' होगा और उससे धन-हानि और कष्ट होगा।
5. घर मे बीचोबीच कोई स्तभ हो या अग्नि या जल का स्थान हो, तो 'स्तभवेध' नामक दोष माना जाए। उसके फलस्वरुप कुल की बरबादी की सभावना रहती है।
6. घर के एक खड (मजिल) मे जितनी कड़ियाँ हो, उनसे कम या अधिक दूसरे खड में हो, तो 'तुला-वेध' माना जाए। इससे भी धन-हानि और कष्ट की सभावना हो सकती है।
7. घर के मुख्य द्वार के सामने वृक्ष, कुआँ, खभा, कोना, खूँटा आदि हो, तो 'द्वार-वेध' नामक दोष होगा। इसके विभिन्न प्रकार के दुष्फल हो सकते है।

आवास गृहों के प्रकार

आठ प्रकार के आवास-गृह

वास्तु-विद्या में आवास-गृहों का वर्गीकरण कईप्रकार से हुआ है। कक्षो और अलिंदों के आकार-प्रकार, सख्या, दिशानुसार स्थिति आदि की दृष्टि से आवास-गृह सोलह हज़ार तीन सौ चौरासी (16384) प्रकार के हो सकते हैं। राज-भवन त्रैलोक्य-सुंदर आदि के नाम से चौंसठ (64) प्रकार के हो सकते हैं।

घरों के प्रसिद्ध भेद हैं: सूर्य, वासव, वीर्य, कालाक्ष, बुद्धि, सुव्रत, प्रासाद और द्विवेध। इनके विमलादि, सुंदरादि एवं हंसादि सोलह-सोलह भेद हैं।

अलिंद-आधारित आठ गृह
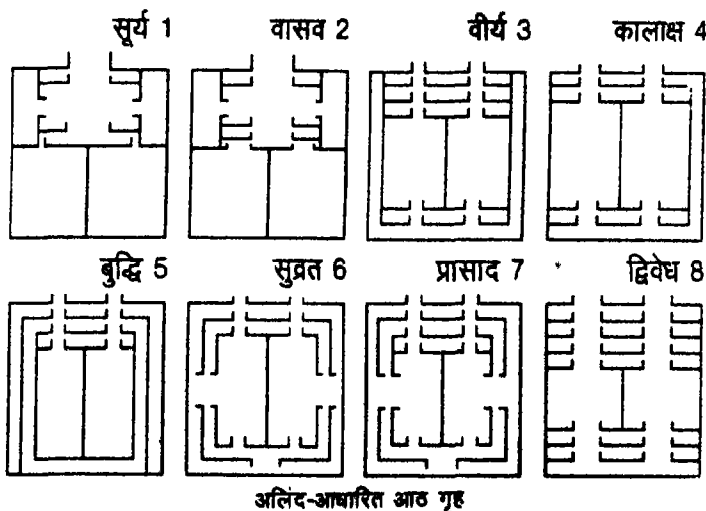
दाएँ-बाएँ एक-एक कक्ष के साथ आगे तीन अलिंद होने पर 'सूर्य'; चार अलिद होने पर 'वासव'; आगे तीन और पीछे दो अलिंद होने पर 'वीर्य'; आगे-पीछे दो-दो और दाएँ एक अलिंद हो, तो 'दंड'; आगे तीन और दाएँ-बाएँ दो-दो अलिंद हों, तो 'बुद्धि'; चारों ओर दो-दो अलिंद होने पर 'सुव्रत';

आगे तीन और शेष तीनों दिशाओं में दो-दो अलिंद हों, तो 'प्रासाद'; और आगे चार और पीछे तीन अलिंद होने पर 'द्विवेध' नाम के घर होते हैं। ये आठों यथानाम-तथागुण हैं। तथापि उनके विशिष्ट शुभाशुभ फल बताए गए हैं (दूसरे से छठे तक क्रमशः): युगांत स्थिरता; चारों वर्णों का हितचिंतन; अकाल-दंड; सद्बुद्धि; सिद्धि।

सोलह प्रकार के आवास-गृह

घरों का वर्गीकरण कहीं-कहीं बहुत ही मनोरंजक आधार पर किया
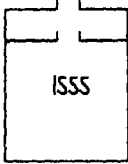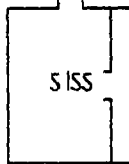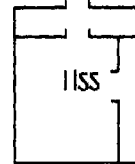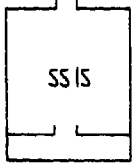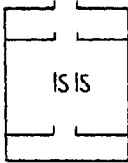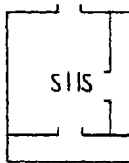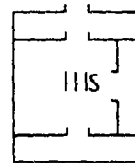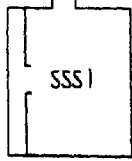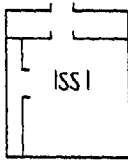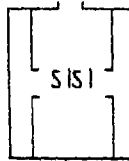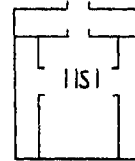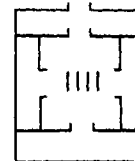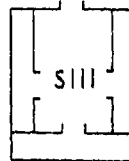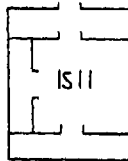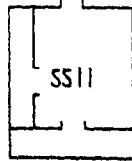
सोलह प्रकार के आवास-गृह

गया है। उदाहरण के लिए, काव्यशास्त्र में छंदों का लक्षण बताने के लिए गुरु (S) और लघु (I) के जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है; उनका प्रयोग वास्तु-शास्त्र में दीवारों (S) और कक्षों (I) की संख्या और स्थिति बताने के लिए किया गया है, जिससे घरों के सोलह भेद बनते हैं; जैसाकि यहाँ रेखा-चित्रों में प्रदर्शित है। 'ध्रुव' नामक प्रथम प्रकार के घर में चारों गुरु (S) हैं, यानी, चारो ओर दीवार है; कोई लघु (I) नहीं है, यानी कोई कक्ष नहीं है। 'धान्य' घर में एक लघु है, उसकी पूर्व दिशा में कक्ष है। 'जय' घर में दूसरे स्थान पर लघु है, उसके दक्षिण में कक्ष है। 'नंद' घर में दो लघु हैं, उसकी पूर्व और दक्षिण दिशाओं में एक-एक कक्ष है। सोलहवें, 'विजय' प्रकार के घर में चारों लघु हैं, उसकी चारों दिशाओं में कक्ष हैं।

इतना ही नहीं, इन सोलहो प्रकार के घरों का वास्तु-विद्या के अतिरिक्त साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व भी है। उनके नामो के अपने-अपने शुभ या अशुभ फल भी होते हैं (क्रमशः) जय; धान्य-वृद्धि; शत्रु पर विजय; सब प्रकार की समृद्धि; क्लेश, लक्ष्मी-आयु-आरोग्य-ऐश्वर्य-संपत्ति; मानसिक संतोष; राज-सम्मान; कलह; भयंकर बीमारी और भय; कुटुंब की वृद्धि; स्वर्ण, रत्न और गाय की प्राप्ति; क्षय (हानि); घर-परिवार में जन-हानि; गृह-स्वामी आदि को आरोग्य और कीर्ति; सब प्रकार की संपत्ति।

चौंसठ प्रकार के आवास-गृह

शांतन आदि के नाम से चौंसठ प्रकार के द्विशाल (दो कमरो वाले) घरों के विभाजन का आधार भी उतना ही रोचक है: दक्षिण और आग्नेय दिशाओ मे एक-एक कक्ष हों और उनके मुख उत्तर दिशा में हों, तो वे 'करिणी' (मादा हाथी) कक्ष कहे जाएँगे। नैऋत्य और पश्चिम में पूर्वमुखी कक्ष 'महिषी' (भैंस) कहे जाएँगे, वायव्य और उत्तर के दक्षिण-मुखी कक्ष 'गावी' (गाय), तथा पूर्व और ऐशान के पश्चिम-मुखी 'छागी' (बकरी) कक्ष कहे जायेगे। इन चारो की विभिन्न और संयुक्त स्थितियो से, 'शांतन' से 'कटक' तक के, चौंसठ प्रकार के घर होंगे।

स्तंभ-संख्या द्वारा परिचित घर

बारह से चौंसठ तक स्तंभों की संख्या के कारण भी घरों के सत्ताईस नाम निर्धारित किए गए हैं। वास्तु-विद्या में उनका बड़ा महत्त्व है। उनके रेखाचित्र प्रस्तुत हैं।

50 स्तंभ
20, जय
52 स्तंभ
21, गजभद्र
54 स्तंभ
22, वृद्धिसंकीर्ण
56 स्तंभ
23, कैलास
58 स्तंभ
24, मृगांदन
60 स्तंभ
25, सुप्रभ
64 स्तंभ
27, पुष्पक
62 स्तंभ
26, पुष्पभद्र
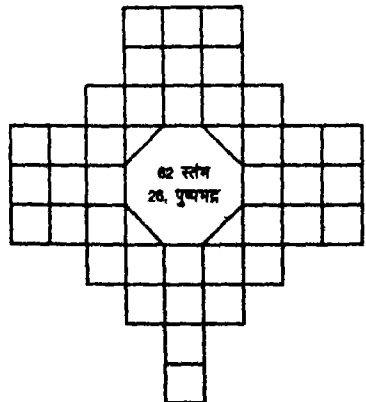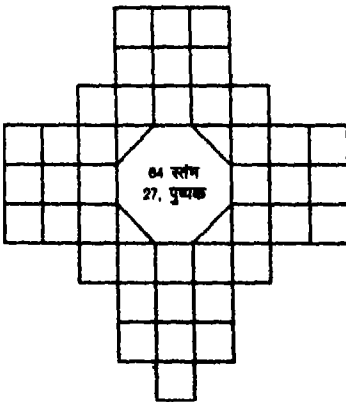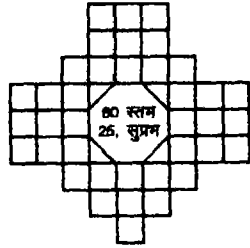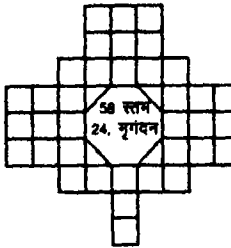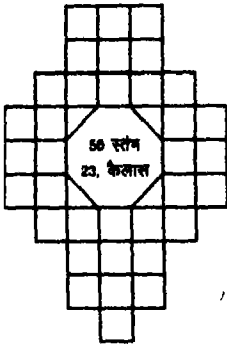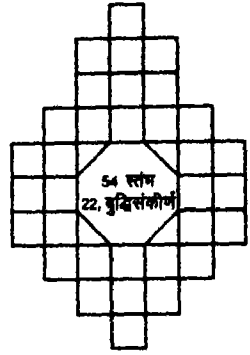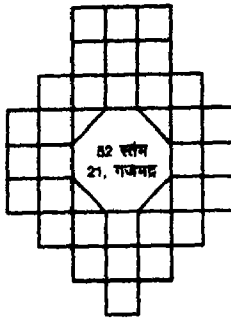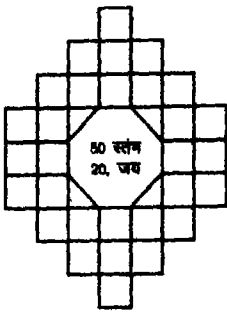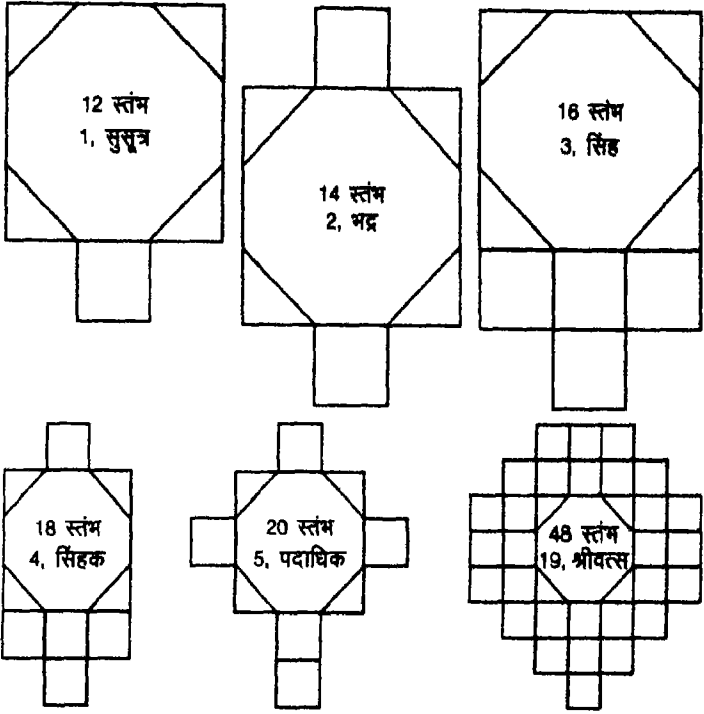
स्तंभ-सख्या द्वारा परिचित घर

आवास-गृहों के अंग

आवास-गृहों के अंग : सामान्य परिचय

आवास-गृह (घर, मकान) के अग हैं: 'शाला' जिसके लिए कक्ष, कोठा, कमरा, ओरड़ा आदि शब्द प्रचलित हैं। 'अलिंद' वह बरामदा या दालान है, जो घर के सामने हो; किन्तु घर के दाएँ या बाएँ या पिछवाड़े जो बरामदा हो, उसे 'अलिंद' नहीं, बल्कि 'गुजारी' कहते हैं। जो स्थान छत के नीचे चारों या तीन ओर से खुला हो, वह 'मंडल' कहलाता है; यह शब्द वास्तुविद्या में बहुत प्रचलित है और इसका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। 'जालक' या 'जालिक' का अर्थ है: खिडकी, झरोखा, गवाक्ष, वातायन, हवाकश आदि। भित्ति (भीट, दीवार), स्तंभ (खंभे), धरण (कडी, पीठ, लिंटल) आदि तो आवासगृह के अंग होते ही हैं; इनके अतिरिक्त द्वार, दुकान आदि भी घर के अंग माने गए हैं।

वास्तु-विद्या मे इन सबके आकार-प्रकार, अनुपात, स्थिति, दिशा आदि पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है।[15] उसमे शुभाशुभ फल का निर्देश भी विभिन्न दृष्टिकोणों से दिया गया है।

आवास-गृह के अंग : दुकान

दुकान का अग्रभाग पृष्ठभाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा और ऊँचा हो, ताकि उसमे अधिक-से-अधिक वस्तुओ का अच्छे-से-अच्छा प्रदर्शन किया जा सके। सिह का मुख भी ऐसा ही होता है। दुकान में उद्यम की अनिवार्यता है, सिह उद्यम का प्रतीक है; 'पंचतंत्र' में ठीक ही लिखा है: "**उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः**", अर्थात् उद्योगी पुरुषरूपी सिंह को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। सिंह तीर्थंकर महावीर का भी चिह्न है।

दुकान या कार्यालय का मुख यथासंभव उत्तर की ओर हो। उत्तर (दिशा) उत्तर (जवाब या टक्कर) का प्रतीक है, जो दूकान की सफलता के लिए अनिवार्य है। जैसा कि कहा जा चुका है, उत्तर कुबेर की दिशा है और कुबेर का दूसरा नाम 'धनद' अर्थात् धन देनेवाला है।

भारत के उत्तर में ही तो हिमालय स्थित है। 'कुमार-संभव' महाकाव्य के प्रथम श्लोक में महाकवि कालिदास ने लिखा है कि 'देवतात्मा पर्वतराज हिमालय इतना विस्तृत है कि एक ओर वह पूर्वी समुद्र को छूता है और दूसरी ओर पश्चिमी समुद्र को, तथा ऊँचा इतना है कि मानों मध्यलोक को नापने चला हो।' पुरुषार्थी उद्योगपति और कर्मठ व्यवसायी ऐसे ही कीर्तिमान स्थापित करें, उत्तर दिशा से यह प्रेरणा मिलती है।

आवास-गृह में कहाँ क्या बनाए जाए

आचार्य उमास्वामी के नाम से प्रसिद्ध श्रावकाचार (पद्य क्र. 112-113) में बताया गया है[48] कि घर की किस दिशा में कौन-सा कक्ष होः पूर्व में श्री-गृह (ड्राइंग रूम), आग्नेय में रसोई (किचन), दक्षिण में शयनकक्ष (बेडरूम), नैर्ऋत्य में शस्त्रास्त्र आदि उपकरण (स्टोर), पश्चिम में भोजनकक्ष, वायव्य में तिजोरी आदि कीमती सामान, उत्तर में जल (टंकी, वाटर-कूलर आदि), ऐशान मे देवालय और इन सबके ठीक मध्य में मुक्ताकाश आँगन (कोर्टयार्ड) होना चाहिये।

'वत्थु-सार-पयरण' के अनुसार सिंह-द्वार (मेन गेट) पूर्व दिशा में, रसोई आग्नेय कोण मे, शयन-कक्ष दक्षिण में, शौलाचय (लेट्रिन) नैर्ऋत्य में, भोजनकक्ष पश्चिम में, आयुध आदि उपकरण (स्टोर) वायव्य में, तिजोरी आदि कीमती सामान उत्तर में और पूजागृह ऐशान कोण में होना चाहिए।

'उमास्वामी श्रावकाचार' (पद्य 112-113) में भी इसीप्रकार की व्यवस्था बताई गयी है। अगर सिंह-द्वार पूर्व दिशा में ना होकर अन्य किसी दिशा मे हो, तो भी अंदर के कक्षो की दिशायें वास्तुशास्त्रोक्त रीति से ही रखी जानी चाहिए। यह कथन भ्रमात्मक है कि 'सिंह-द्वार की दिशा बदलने से अन्य कक्षों की दिशायें भी बदल जाएंगी।'

सिंह-द्वार (मेन-गेट) की दिशा

जो सिहद्वार पूर्व की ओर हो, उसे 'विजयद्वार' कहते हैं। इसीप्रकार जो पश्चिम की ओर हो उसे 'मकर (क्रोकोडाइल) द्वार', जो उत्तर मे हो उसे 'कुबेरद्वार' और जो दक्षिण में हो उसे 'यमद्वार' कहते हैं।

स्पष्ट है कि सिहद्वार दक्षिण में बनाकर कोई भी यम का द्वार नहीं खोलना चाहेगा। तथापि यदि ऐसा करना अनिवार्य हो जाए, तो वह बीचोंबीच या जहाँ चाहे नहीं बनाया जाए, बल्कि भूमि की दक्षिण मे लंबाई (या चौड़ाई) के आठ समान भागों में से दूसरे या छठे भाग मे बनाया जाए। उदाहरण के लिए, दक्षिण में भूमि की लंबाई चौबीस फुट हो, तो सिहद्वार चौथे से छठे फुट के बीच, या, सोलहवें से अठारहवे फुट के बीच बनाना चाहिए। इसीप्रकार आठ भागों में से चौथे या तीसरे भाग में पूर्व दिशा में, तीसरे या पाँचवें भाग में पश्चिम दिशा में और तीसरे या पाँचवें भाग में उत्तर दिशा मे सिंहद्वार बनाया जाए। घर के अंदर जाने का मुख्यद्वार भी इसी नियम के अनुसार बनाया जाए। यहाँ तक कि ऊपर की मंजिल या मंज़िलों में जाने के लिए सोपानमार्ग या ज़ीना भी इसी नियम के अनुसार बनाया जाए।

सिंह-द्वार और मुख्य-द्वार का संबंध

'समरांगण-सूत्रधार' में लिखा है कि सिंहद्वार और मुख्यद्वार की दिशा एक ही हो, अर्थात् घर में सम्मुख प्रवेश हो, तो उस 'उत्संग' नामक प्रवेश से सौभाग्य, सतान, धन-धान्य और विजय प्राप्त होती है।

सिंहद्वार से बाईं ओर घूमकर मुख्यद्वार में प्रवेश करना पड़ता हो, तो वह 'हीन-बाहु' प्रवेश कहा जाएगा; जिसका दुष्फल है—निर्धनता, मित्रबंधुओं की कमी, स्त्रियों का बोलबाला और बीमारियों का सिलसिला। सिंहद्वार में सिंहद्वार की दीवार घूमकर किया जानेवाला प्रवेश 'प्रत्यक्ष' या 'पृष्ठभंग' प्रवेश होगा और उसके वे ही दुष्फल होंगे, जो 'हीनबाहु' प्रवेश के होते हैं।

मुख्य-द्वार की ऊँचाई और चौड़ाई

घर की चौड़ाई जितने हाथ (लगभग चौबीस इंच) हो, उतने अंगुल (लगभग एक इंच) में साठ (60) अंगुल और जोड़ने पर जितने अंगुल आएँ, उतनी ऊँचाई मुख्यद्वार की हो। आवश्यकता के अनुसार साठ के बदले पचास या सत्तर अंगुल भी जोड़े जा सकते हैं।

द्वार की ऊँचाई का आधा और सोलहवाँ भाग मिलाने पर (नौ बटे सोलह) जो नाम आए, उतनी चौड़ाई उस द्वार की रखी जाए। मान लें कि द्वार की ऊँचाई अस्सी अंगुल है, तो उसके आधे चालीस और सोलहवें भाग, यानी पाँच अंगुल मिलाकर पैंतालीस अंगुल उस द्वार की चौड़ाई होगी।

द्वार की चौड़ाई एक अन्य प्रकार से भी निकाली जा सकती है। घर की ऊँचाई (अनुमानित बारह फुट) की दो तिहाई (आठ फुट) द्वार की ऊँचाई और उसकी आधी (चार फुट) चौड़ाई रखी जाए। अन्य द्वार मुख्य-द्वार के बराबर, या उससे छोटे, लेकिन उसी अनुपात मे बनाये जा सकते हैं। द्वार के साथ खिड़की या खिड़कियाँ सुविधानुसार बनाई जा सकती हैं।

पश्चिम दिशा में द्वारवाले घर में यदि दो द्वार और शाला हो, तो अनिष्ट की संभावना रहेगी। **द्वार पर कमल का अंकन (उकेरना) आवश्यक है; परंतु एक ही कमल अंकित हो, तो वह अशुभ होगा। जिस द्वार के किवाड़ (पल्ले) अपने आप खुल जाएँ या बंद हो जाएँ, वह द्वार अशुभ होता है। कलश आदि के चित्रों से अलंकृत मुख्यद्वार शुभकारक होता है।**

गृहसज्जा का महत्त्व

आवास-गृह की साजसज्जा से गृहस्वामी के आचार-विचार का परिचय मिलता है।[21] सज्जा के रूप और विषय का निर्धारण साहित्य, परंपराएँ, मॉडर्न आर्ट आदि करते हैं; सज्जा करने का व्यवसाय (इंटीरियर डेकोरेशन)

चल पड़ा है। घर के अग्रभाग (फ्रंट) का डिज़ाइन स्वयं सजावट का आधुनिक उद्देश्य पूरा कर देता है; तो भी प्रवेश द्वार पर बंदनवार, कलश, स्वस्तिक, 'शुभ', 'लाभ' आदि की प्रस्तुति आज भी की जाती है।

सज्जा अंतरंग हो या बहिरंग, वह जितनी प्रतीकात्मक या सिंबालिक (भावनाओं की सूचक) हो, उतनी ही अच्छी होगी। झारी (टोंटीदार कलश), कलश,[49] दर्पण,[50] ध्वज,[51] चामर, छत्र, व्यजन (पंखा), सुप्रतिष्ठ (पुस्तक रखने की रिहल) आदि मंगल द्रव्य[52] स्थापित कर मंदिर की सज्जा की जाती है।

उनमें से पूर्ण घट या कुंभ या कलश का विधान आवास-गृह के लिए भी है। पूर्ण कलश परिवार को भरापूरा रखता है, उस पर आच्छादित आम्रपत्र सब कुछ हराभरा रखते हैं, उन पर स्थापित नारियल कल्पवृक्ष का प्रतीक है। आते हुए प्रियजन के स्वागत में सुहागिनें कलश लेकर खड़ी होती हैं। साधु का आहार के लिए प्रतिग्रहण नारियल के साथ कलश लेकर किया जाता है। मंदिर की शोभा शिखर से और शिखर की शोभा कलश से है।

निर्माण-कार्य में ध्यान रखने योग्य कुछ बातें

ध्यान रखा जाए[53] कि एक कोना दूसरे कोने के बराबर हो, एक आला दूसरे आले के बराबर हो, खूँटे के बराबर खूँटा और खंभे के बराबर खंभा हो। आले के ऊपर कीला या खूँटा, द्वार के ऊपर खंभा, खंभे के ऊपर द्वार, एक द्वार के ऊपर दो द्वार, सम संख्या में खंड (मंज़िल) और विषम संख्या में खंभे हों; तो कभी भी कुछ भी हानि हो सकती है। आँगन का तिकोना या पँचकोना होना भी अनिष्टकारक है। ऐसे घर में कभी नहीं रहना चाहिए, जिसके कोने गोल हों; जिसमें एक या दो या तीन कोने हों, जो दक्षिण की ओर या बायीं ओर लंबा हो। खिड़की इतनी ऊँचाई पर बनाई जाए कि उसके पास की पड़ोसी की खिड़की नीची हो। पड़ोसी के मकान में अंतराल हो, तो कोई बाधा नहीं है। अपनी खिड़की ऊँची रखने से यहाँ तात्पर्य ऊर्जा की बेरोक-टोक प्राप्ति का उद्देश्य पूर्ण करना है। **घर के पीछे खिड़की तो क्या, सुई के बराबर छेद भी नहीं रखना चाहिए।**

गाय, बैल और गाड़ी का स्थान घर के बाहर दक्षिण में और घोड़े का स्थान उसकी बाईं ओर घुड़साल में हो। घर में अन्य पशु-पक्षी न रखे जाएँ;

कुत्ता, बिल्ली आदि मासाहारी तो कतई नहीं।

घर मे सोते समय ध्यान रखा जाए कि पैर देव-शास्त्र-गुरु-अग्नि-गाय और धन (तिजोरी) की ओर न हों, सिर उत्तर में न हो, शरीर पूरी तरह निर्वस्त्र न हो और पैर गीले न हों, सिरहाना दक्षिण में या फिर पश्चिम मे हो। जबकि सल्लेखना (समाधिमरण) आदि के समय सिरहाना ऐशान मे या उत्तर मे या फिर पूर्व में होना चाहिए।[56]

आधुनिक शैली का निर्माण

आवास-गृहों का सामूहिक निर्माण

भूमि, समय, श्रम और धन की बचत के लिए और सहकारिता की दृष्टि से सामूहिक आवास योजनाएँ अब सर्वत्र प्रचलित हो रही है। यद्यपि इनके अधिक लाभ हैं; किंतु कुछ हानियाँ भी है। अतः इनमें भूमि, भवन और साझा व्यवस्था में विवादों से बचने के लिए दीवारें, ज़ीना, गृह-वाटिका (किचन गार्डन) आदि कम-से-कम बनाए जाएँ।

सामूहिक आवास योजना के लिए भूखड के चयन मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बरसात के पानी का बहाव उत्तर-पूर्व की ओर हो। इसी तरह सड़को का निर्माण उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम मे हो। कॉलोनी के गेट दो हो, पूर्व मे और उत्तर मे। यह प्रयास किया जाए कि आवास चतुर्भुज आकार मे हो; उनमें प्रातःकालीन सूर्य किरणो का प्रवेश हो सके।

इस प्रकार के निर्माण मे सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तिगत और सामूहिक सुविधाएँ जुटाई जाएँ। सहकारिता की सद्भावना का अतिरिक्त लाभ उठाकर सांस्कृतिक, साहित्यिक और व्यावसायिक कार्य-कलाप हाथ मे लिए जाएँ। सहकारिता के इस माध्यम से अनेकता मे एकता की स्थापना द्वारा देश-सेवा भी की जा सकती है।

बहु-मंज़िले (मल्टी-स्टोरीड) भवन

वास्तु-विद्या के नियमो और उपनियमो की दृष्टि से, एक बहु-मंजिला भवन भी एक प्रकार की सामूहिक आवास योजना है। वैज्ञानिक और सामूहिक सुविधाएँ दोनों मे समानरूप से चाहिए।

भूखड का ढलान उत्तर-पूर्व में हो, दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र के तल की ऊँचाई अधिक हो। भवन की चारों ओर खुली जगह तथा दक्षिण-पश्चिम मे कम खाली स्थान छोडे। पूर्व मे खुली जगह पश्चिम से अधिक हो। उत्तर एव उत्तर-पूर्व में खुली जगह दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम से अधिक हो। भूखंड का दक्षिण-पश्चिम कोण समकोण हो, 90°, जिससे चौकोर या

आयताकार मकान बन सकें। उत्तर-पूर्व या दक्षिण-पूर्व में मार्ग हों।

निर्माण-कार्य प्रारंभ करने से पूर्व ही कुआँ या ट्यूबवेल, उत्तर-पूर्व अर्थात् 'ईशान कोण' मे बनाया जाए। छत पर पानी की टंकी वायव्य कोण में हो। अग्नि-शमन आदि की वैज्ञानिक व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाए।

प्रथम तल से ऊपरी तल की ऊँचाई कम रखनी चाहिए, परतुं बहु-मज़िले भवनों मे ऐसा करना कठिन होता है, अतः सबसे ऊपर की मंजिल की ऊँचाई थोड़ी कम रखी जा सकती है। ऊपर की मंजिलों का निर्माण इस तरह से करकें कि प्रातःकालीन सूर्य किरणे सभी आवासो को प्राप्त हों और वायु का प्रवेश किसी भी आवास मे नहीं रुके।

ज़्यादातर आवासो की बालकनी पूर्व और उत्तर दिशा मे ही हो, और जहाँ तक संभव हो दक्षिण या पश्चिम दिशा में नहीं। स्टोर आदि आवास के दक्षिण-पश्चिम भाग मे ही हो।

सीढियाँ दक्षिण या पश्चिम दिशा में या जहाँ तक संभव हो दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र में बनाएँ, उत्तर-पूर्व मे नहीं। आवासों के मुख्य दरवाजे पूर्व, उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम की ओर हो। रसोईघर दक्षिण-पूर्व या उत्तर-पश्चिम मे हो।

छोटे वाहनों की पार्किंग का ज़मीन के अदर (अंडरग्राउंड) स्थान उत्तर-पूर्व में और बेसमेंट उत्तर या पूर्व क्षेत्र में हों, दक्षिण एव पश्चिम मे नहीं। उत्तर-पूर्व के खुले स्थान में पार्क हो। वृक्ष कम ऊँचाईवाले हों, ताकि वायु-संचार नहीं रुके। दक्षिण दिशा में बड़े वृक्ष भी लगाए जा सकते हैं।

औद्योगिक-उपयोग के भवन

औद्योगिक सस्थान के लिए भूखंड के पूर्व में, उत्तर में या उत्तर-पूर्व में मार्ग उत्तम होता है। प्रवेशद्वार उत्तर-पूर्व में या पूर्व मे या उत्तर-पश्चिम मे हो। औद्योगिक भवनों में दक्षिणी-पश्चिमी भाग ऊँचा बनाया जाए। संस्थान का प्रशासनिक भवन फैक्टरी भवन से नीचा हो, और मध्य में उत्तर या पूर्व दिशा में हो। जैनरेटर का कमरा दक्षिण में हो या दक्षिण-पूर्व मे। भूखंड के उत्तर-पूर्व में अन्य दिशाओं की अपेक्षा अधिक खुला स्थान, दरवाजे, खिड़कियाँ आदि हों। सुरक्षा कर्मचारियो के लिए स्थान उत्तर-पश्चिम या उत्तर मे बनाएँ। कर्मचारियों के आवास दक्षिण-पूर्व या उत्तर-पश्चिमी औद्योगिक

भवन की दीवार से दूर हों। शौचालय दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य कोण) में हो। भवन के दक्षिण और पश्चिम में अधिक ऊँचे वृक्ष लगाए जा सकते हैं। परंतु भवन के पूर्व एवं उत्तर में कम ऊँचाईवाले वृक्षों के बग़ीचे-पार्क हो, जिससे सूर्य का प्रकाश न रुके। कुआँ या ट्यूबवेल पूर्व-उत्तर में, दीवार और गेट से थोड़ी दूर पर हो। उत्तर-पश्चिम में ओवरहेड टैंक स्थापित करें। भारी सामान का भंडारण दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में और वाहनों की पार्किंग उत्तर-पश्चिम में हो। भारी मशीनरी दक्षिण, पश्चिम या दक्षिण-पश्चिमी दिशा में स्थापित करे। आग संबधी सभी कार्य जैसे भट्टी, बॉयलर आदि दक्षिण-पूर्व में रखे।

उद्योग में लगनेवाली सामग्री दक्षिण, पश्चिम, या दक्षिण-पश्चिम दिशा में रखने का स्थान (स्टोर) हो। उत्तर-पूर्व मे तैयार माल रखे। अधबना माल पश्चिमी क्षेत्र में और तैयार माल उत्तर-पश्चिम में रखा जा सकता है। कच्चे माल का उत्पादन दक्षिण-पश्चिम से प्रारम्भ हो। उसकी निकासी उत्तर-पूर्व की ओर से हो।

वास्तु-विद्या के नए चमत्कार

भवनो के निर्माण मे यत्रो की भूमिका दिनोदिन बढ रही है। परपरागत सामग्री का स्थान कृत्रिम सामग्री लेती जा रही है। रेडीमेड दीवारो आदि को नट-बोल्ट से कसकर बड़े-बड़े भवन बनाए जा सकते हैं; नट-बोल्ट खोलकर वही भवन स्थानान्तरित किये जा सकते है।

विद्युत-उपकरणों, कम्प्यूटरों, यत्र-मानवो (रोबट्स) आदि पर आधारित व्यवस्थाओं और सुविधाओं ने भवनों को इतना चमत्कारी, स्वयंचल (ऑटोमैटिक) और सवेदनशील (सेंसिटिव) बना दिया है कि उनके लिए एक नया शब्द चल पड़ा है, 'इटैलिजेट बिल्डिंग' (समझदार भवन)।

भवनों की सुरक्षा, अतरग यातायात, वार्तालाप आदि में इटरकॉम, शॉर्ट-सर्किट टी.वी. आदि के साथ अब कम्प्यूटर की सहायता भी ली जाने लगी है। अवांछित व्यक्तियो और सामान के प्रवेश का निषेध, वातावरण का नियंत्रण (एयर-कडीशनिग), आग, तूफान, भूकंप आदि की भविष्यवाणी और उनसे बचाव, विद्युत्-आपूर्ति और जल के शुद्धीकरण की स्वचालित व्यवस्था, भवनो का रखरखाव और साज-शृगार (इटीरियर डेकोरेशन) आदि यत्रचालित और कंप्यूटरीकृत हो चले हैं।

बहु-मंज़िले भवनों में उत्थापक (लिफ़्ट) और चक्र-सोपान (एलिवेटर) की व्यवस्था साधारण बात हो गई है। बटन चटकाने भर से यानी रिमोट कंट्रोल से द्वार खुलते या बंद होते हैं, परदे उठते-गिरते हैं; यहाँ तक कि बाहर चल रही शीतल-सुखद बयार की अगवानी में खिड़कियाँ अपने आप खुल पड़ती हैं और वातानुकूलन स्थगित हो जाता है। प्राकृतिक प्रकाश का आर्थिक लाभ उठाने के लिए कृत्रिम प्रकाश-व्यवस्था स्वयं स्थगित हो जाती है। यह निश्चित संभावना कितनी आनंद-वर्धक है कि विज्ञान के अनत आविष्कारो से वास्तु-विद्या का भविष्य भी अद्भुत-अपूर्व चमत्कारों से भर उठेगा !

❑❑

मंदिर की अवधारणा

'मंदिर' शब्द का अर्थ और भावार्थ

'मंदिर' शब्द का अर्थ संस्कृत में देवालय भी होता है और आवासगृह भी; परतु हिंदी में वह प्रायः देवालय के अर्थ मे ही चलता है। जैन साहित्य मे एक शब्द और भी इस अर्थ में विशेषरूप में चलता रहा है, वह है 'आयतन', जिसका प्रयोग 'जिनायतन' के अंतर्गत होने लगा और उसके भी बाद मदिर, आलय, प्रासाद, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया। 'जिनायतन' शब्द के प्रचलन से एक बात सूचित होती है कि मदिर मे 'जिन' भगवान् का मूर्ति के रूप मे निवास होता था। 'मूर्ति' के लिए 'चैत्य' शब्द का भी चलन था, इसीलिए 'चैत्यालय' शब्द भी मंदिर के अर्थ मे आज भी चलता है। अकृत्रिम चैत्यालयो[55] मे विराजमान जिन-बिबो को अर्घ[56] देने का विधान भी आज जैन पूजा-पाठ का एक अग है। 'अकृत्रिम चैत्यालय' का अर्थ है विजयार्ध पर्वत, कुलाचलों आदि पर विद्यमान शाश्वत जिनायतन; जिनका निर्माण नहीं किया जाता।

जैन-मंदिर : समवशरण का प्रतीक

प्रसिद्ध कला-इतिहासज्ञ आनन्दकुमार कुमारस्वामी ने 'हिस्ट्री ऑफ इडियन एड इडोनेशियन आर्ट' मे लिखा है, 'इसमें सदेह नही कि मंदिरो और अतिम सस्कार के स्थानो मे कोई एकरूपता है'; परंतु उनका यह कथन जैन मदिर के सदर्भ मे तनिक भी सार्थक नहीं। इस सदर्भ में 'जैन कला और स्थापत्य', खड 3 की ये पक्तियाँ द्रष्टव्य है—"मंदिर अनिवार्यरूप से किसी तीर्थंकर को समर्पित होता है, इसलिये उसे एक स्मारक की सज्ञा देना किसी सीमा तक तर्कसंगत हो सकता है। पर यह निश्चित है कि मदिर ऐसा स्मारक नही, जो किसी के अंतिम संस्कार के स्थान पर अथवा अस्थि आदि अवशेषो पर निर्मित किया जाता है।"

इसके विपरीत मदिर को एक अतदाकार स्थापना या प्रतीक मानना अधिक तर्कसगत होगा, वह मेरु का नहीं बल्कि समवशरण का प्रतीक हो

सकता है, जो तीर्थंकर की सभा के लिए दिव्य माया से निर्मित विशाल समागार होता है; पाँचों परमेष्ठियों में जिनकी वंदना सर्वप्रथम की जाती है उनमें तीर्थंकर ही ऐसे हैं, जो अपना उपदेश केवल समवशरण में देते हैं और मूर्ति के रूप में सर्वप्रथम अंकन भी उन्हीं का हुआ और उन्हीं का तदाकार प्रतीक प्रत्येक मंदिर में मूल-नायक के स्थान पर होना अनिवार्य है।

अनेक प्राचीन और नवीन मंदिरों के समक्ष मानस्तम्भ विद्यमान हैं जो समवशरण का ही एक भाग होता है। यही कारण है कि एक बार मंदिर-स्थापत्य के रूप में प्रतीकबद्ध हो चुका समवशरण किसी दूसरे लघु प्रतीक के रूप में भी प्रस्तुत नहीं किया गया।

जैनधर्म में समवशरण की मान्यता असाधारण है; उसे स्तूप या ऐडूक, जारूक या जालूक और ज़िग्गुरात आदि की तरह किसी के अंतिम संस्कार के स्थान पर, या अस्थि आदि अवशेषों पर निर्मित स्मारको की श्रेणी मे रखना अनुचित होगा।

'चैत्य' शब्द का उल्लेख यदि यहाँ किया जा सके, तो उससे इस मान्यता को बल मिलेगा। आयतन और चैत्य —इन दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है। ग्रंथो में समवशरण की जो रचना वर्णित है, वह इतनी जटिल है कि उसके प्रतीक के रूप में मंदिर को जो आकार मिला, उसमें यद्यपि उन ग्रथो के अनेक विधानों का पालन किया गया और उसका विस्तार भी यथासंभव विशाल रखा गया; तथापि उस देवगृह का नाम समवशरण नहीं बल्कि 'आयतन' या 'चैत्य' के रूप में प्रचलित हुआ।

जैन मंदिरों तथा अन्य मंदिरों में समानता

इस संदर्भ में वहीं से एक अनुच्छेद और भी उद्धृत किया जा रहा है: "इस मान्यता के आधार पर उद्भूत जैन मंदिर का विकास अपनी समकालीन परम्पराओं के मदिरों के साथ ही एक प्रवाह में कभी तीव्र और कभी मंद गति से होता रहा। यही कारण है कि अन्य परम्पराओं के मंदिरों के मध्य एक जैन मदिर की पहचान के लिए सूक्ष्म परीक्षा की आवश्यकता होती है, या फिर उसके लिए किसी अभिलेख या साहित्य का स्पष्ट उल्लेख, या परपरागत प्रमाण, या किसी मूर्ति का होना आवश्यक है।"

जैन मूर्ति-कला का विकास भी समकालीन परंपराओं के साथ हुआ,

किंतु एक ही प्रवाह में नहीं; जबकि जैन मंदिर उसी प्रवाह में विकसित हुआ—इसका परिणाम यह भी हुआ कि जैन स्थापत्य के सिद्धांत का प्रतिपादन करने को पृथक् रूप में लिखे गए ग्रंथो की संख्या अत्यत कम है।

मंदिर के अंग और विभाग

मदिर का गर्त-विवर या नीव का गड्ढा इतना गहरा हो कि वहाँ या तो भूगर्भ से जल निकलने लगे या शिलातल निकल आए। गर्त-विवर के मध्य धार्मिक अनुष्ठानो के साथ कोण-शिला स्थापित की जाए। जिस दिशा मे खात हुआ हो, वहीं नींव मे शिलान्यास-विधि की जाती है। ज्योतिष के अनुसार जिस दिशा मे सूर्य हो, उस कोण में पचपरमेष्ठी की पूजन करके नीचे एक फुट लंबी-चौडी शिला स्थापितकर, उस पर स्वस्तिक व प्रशस्तिसहित विनायक-यंत्र स्थापित करें। प्रशस्ति में मदिर-निर्माता का नाम, तिथि, संवत् आदि उत्कीर्ण होते हैं। पश्चात् वहाँ छोटा ताम्रकलश स्थापित करें, जिसमें दीपक प्रज्वलित करे। उस पर एक दूसरी 1 फुट×1 फुट की शिला रख देवें। आसपास की इटों से उसे सीमेंट द्वारा समतल किया जाये। इस धार्मिक मंदिर भूमि के बाहर (आगे) शिलापट्ट पर मंदिर-सम्बन्धी प्रशस्ति उत्कीर्ण की जाकर किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा उसका अनावरण कराया जाये—यही शिलान्यास-विधि है। इसे विशिष्ट मुहुर्तों मे ही किया जाना चाहिए।

सूर्य की राशि से 'खात' एवं शिलान्यास के मुर्हुर्त की दिशा का ज्ञान

कोण →	अग्नि	ईशान	वायव्य	नैऋत्य
गृहारम्भ	सिह, कन्या, तुला	वृश्चिक, धनु, मकर	कुम्भ, मीन, मेष	वृष, मिथुन, कर्क
देवालय	मीन, मेष, वृश्चिक	मिथुन, कर्क, सिंह	कन्या, तुला, वृष	धनु, मकर, कुम्भ
जलाशय	मकर, कुम्भ, मिथुन	मेष, वृश्चिक, मीन	कर्क, सिंह, कन्या	तुला, वृश्चिक, धनु

इसके पश्चात् वह गड्ढा को सघनता से भर दिया जाए और उसके तल को कूटकर ठोस बना दिया जाए। इस विधि से निर्मित भूतल पर अधिष्ठान अर्थात् पीठ या चौकी का निर्माण किया जाए। 'अधिष्ठान' परिस्थितियों के अनुसार समतल भी बनाया जा सकता है और उस पर एक से पाँच तक स्तर भी बनाए जा सकते हैं, जिन्हें 'थर' या 'प्रस्तर-गल' कहते हैं। कोण या कर्ण, प्रतिरथ, रथ, भद्र और मुखभद्र अधिष्ठान के विभिन्न 'घटक' या 'गोटा' हैं; परन्तु वे मुख्य भवन के ही अंग माने गए हैं। किंतु नंदी, पल्लव, तिलक और तवंग 'पीठ' के घटक होने पर भी वे मंदिर के अलंकार-तत्त्वों में परिगणित हैं।

'मंडोवर' के तेरह अंग होते हैं। मंडोवर शब्द पश्चिम भारत में प्रचलित है और संस्कृत 'मंडपवर' या 'मंडपधर' शब्द का स्थानीय या अपभ्रंशरूप प्रतीत होता है। मंडोवर वास्तव में भित्ति या बाहरी दीवाल है, जिस पर प्रासाद के एक या अनेक मंडपों की छत आधारित होती है। सूत्रधार मंडन ने मडोवर के चार भेद बताए हैं: **नागर, मेरु, सामान्य और प्रकारांतर।**

'शिखर' एक वृत्ताकार छत है, जो भवन पर उल्टे प्याले की भाँति ऊँची होती जाती है। उसके चार अग होते हैं: शिखर, शिखा, शिखांत और शिखामार्ग। शिखर के ऊपरी अगों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है. छाद्य, शिखर, आमलसार या आमलक और कलश। 'आमलक' के अंग हैं: गल, अंडक, चंद्रिका और आमलसारिका। कलश साधारणतः शिखर का सबसे ऊपर का भाग कहलाता है;[49] उसके अंग हैं: गल, कर्णिका और बीजपूरक। शुकनासा या शुकनासिका शिखर का वह अगला भाग है, जिसका आकार तोते की चोच की भाँति होता है। शिखर के ऊपरी भाग पर दंडसहित[57] ध्वज स्थापित[52] किया जाए "**ध्वजाहीनं न कारयेत्**"।[47]

मंदिर के द्वार की चौड़ाई ऊँचाई से आधी होनी चाहिये। द्वार की चौखट पर यथास्थान तीर्थंकरों, प्रतीहार-युगल, मदनिका (सुंदरी) आदि की आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाएँ। जीर्णोद्धार के समय मंदिर का मुख्यद्वार स्थानांतरित न किया जाए और न ही उसमें कोई मौलिक परिवर्तन किया जाए।

'जगती' अधिष्ठान का एक घटक है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार

जितनी भूमि पर मंदिर का भवन निर्मित होता है, उतनी भूमि 'जगती' है। 'जगती' को आधार मानकर ही प्रासाद या मंदिर के मुख्यभाग और उसके अंगो की आनुमानिक स्थिति निर्धारित होती है। पीठ के भूतल के रूप में दिखाई पड़नेवाली जगती पर चारों ओर द्वारों या गोपुरों सहित प्राचीर का निर्माण किया जाए।

मंदिर का प्रमुख अंग 'मंडप'

'मंडप' के कई भेद हैं: 'प्रसाद-कमल मंडप', जिसे 'गर्भगृह' या मंदिर का मुख्यभाग भी कहते हैं; 'गूढ-मंडप' अर्थात् भित्तियों से घिरा हुआ मंडप; 'त्रिक-मण्डप', जिसमें स्तंभो की तीन-तीन पंक्तियों द्वारा तीन आड़ी और तीन खड़ी वीथियाँ बनती है; 'रंग-मण्डप' जो एक प्रकार का सभागारहोता है; और 'तोरण-सहित बलानक' अर्थात् मेहराबदार चबूतरे। मंडप की चौड़ाई गर्भगृह की चौड़ाई से डेढ़गुनी या पौने-दोगुनी हो। स्तंभों की ऊँचाई मंडप के व्यास की आधी हो, किंतु अधिक व्यावहारिक यह होगा कि स्तभ की ऊँचाई सामान्यतः उसकी पीठ की ऊँचाई से चौगुनी हो; चौकी उसकी पीठ से दोगुनी या तिगुनी हो और ऊपरी भाग पीठ के बराबर या उससे दोगुना हो।

मंडप का एक शब्द-चित्र यहाँ प्रस्तुत है, जो पंडित आशाधर जी ने 'पूजा-पाठ' में वास्तु-विधान के अंतर्गत खींचा है।[58] वाद्य-वृंद के लहराते सगीत के बीच परमब्रह्म जिनदेव को पुष्पांजलि अर्पित की जाए, जो वास्तु-मडप में विराजमान हैं। वह वास्तु-मंडप कैसा है?

पानी, मिट्टी, पत्थर और बालू तक खुदाई कर भूमि से दूषित पदार्थ दूर करके उसे साफ बालू और ईंटो से ठोस बनाया गया, उस पर बनाई गई चौकी (प्लिंथ) पर चिकनी मिट्टी का लेप (प्लास्टर) किया गया, उस पर वह वास्तु-मंडप बना है। वह सोने के ऐसे स्तंभों पर आधारित होती है, जिन पर पाँचों प्रकार के रत्नो (नीलम, वज्रक या लाजवर्द, पन्नारत्न, मोती, मूँगा) से जड़े हुए पाँच तरह के अलंकार खुदे हैं, से वह सुसज्जित है तथा वह बदनवार और झंडियाँ निरंतर चलते शीतल-मंद-सुगंधित हवा के झोंकों से हौले-हौले हिलती रहती हैं। सोने के शिखर पर जडे मणियो की किरणों से आकाश को रंगीन करते हुए विमान से वह वास्तु-मंडप शोभायमान है। उसकी चारों दिशाओं में जो गोपुर-द्वार हैं, उनकी दोनों ओर भूमि पर

मणि-मय मंगल-कलश स्थापित हैं। तरह-तरह के स्वच्छ वस्त्रों से बनी चाँदनी से लटकती मोतियों की मालाओं से वह अलकृत है। वह, मानों, एक वैभव-पूर्ण जनवासा (बारातघर) है, जिसमें मुक्ति-रूपी वधू स्वयंवर द्वारा विवाह रचाने आई है। उस वास्तु-मंडप में जो विशाल-से-विशाल चैत्य-आयतन (मूर्तियों के लिए अलग-अलग प्रकोष्ठ) हैं, उनमे अच्छे-से-अच्छे और अधिक-से-अधिक सब प्रकार के द्रव्य तैयार रखे हैं। उसका आकर्षण बढ़ रहा है उन बड़े-बड़े उत्सवों से, जो जिन-देव के कल्याणकों के उपलक्ष्य में आयोजित हैं।

जैन मंदिरों का नामकरण

मंडप के भेदो और मंदिर के प्रकारों (अग्रलिखित) के जो नाम हैं, वे भी कई दृष्टियों से शोध-खोज के विषय हैं। यह बहुत ही उल्लेखनीय है कि इनमें से कई नाम इतिहास, पुराण, कोष, शकुन-शास्त्र, रत्न-शास्त्र आदि के प्रमुख शब्द हैं। कुछ मदिरों के नाम उनके निर्माताओं के नाम से भी चल पड़े हैं। कुछ मंदिर आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से यथानाम–तथागुण हैं। आलंकारिक नाम कम हैं। जबकि अधिकांश मंदिरों के नाम उनके मूलनायक के नाम से चलते हैं। देव-देवियों के नाम से जैनमंदिरों के नाम बहुत कम हैं और जो हैं, उनमे भी **मूलनायक तीर्थंकर-मूर्ति ही होती है।**

मंदिर (जिन-प्रसाद) के प्रकार

जैनमन्दिर रचना की दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं। प्रकारों की सख्या भी अलग-अलग लिखी मिलती है। 'वत्थु-सार-पयरण' में लिखा है: श्री-विजय, महापद्म, नंद्यावर्त, लक्ष्मी-तिलक, नर-वेद, कमल-हंस और कुंजर–ये सात प्रासाद जिन भगवान् के लिए उत्तम हैं। विश्वकर्मा ने जिनमदिर के प्रकारो के असख्य भेद कहे, उनमे से पच्चीस अतिश्रेष्ठ माने गये है: केशरी, सर्वतोभद्र, सुनदन, नंदिशाल, नंदीश, मंदिर, श्रीवत्स, अमृतोद्भव, हेमवंत, हिमकूट, कैलाश, पृथ्वीजय, इंद्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूट, वैडूर्य, पद्मराग, वज्रांक, मुकुटोज्ज्वल, ऐरावत, राजहंस, गरुड, वृषभ और मेरु। –इनमे से प्रथम 'केशरी' के शिखर के साथ चारों ओर एक-एक छोटा शिखर होता है, जिसे 'अडक' या 'अंग-शिखर' कहते हैं। दूसरे 'सर्वतोभ्रद' के शिखर के साथ आठ, तीसरे के बारह, इस तरह प्रत्येक के साथ चार 'अंडक' बढ़ते-बढ़ते पच्चीसवें 'मेरु' नामक प्रकार के

मन्दिर-शिखर के साथ एक सौ अडक या अग-शिखर होंगे।

उपर्युक्त सात और ये पच्चीस, —इनके अतिरिक्त चौंसठ या और भी अधिक प्रकार के मंदिर कभी-कहीं बनाये गये या नहीं—यह शोध-खोज का विषय है।

जैनमंदिर का एक शास्त्रीयरूप

मनुष्यों और देवों के आवास-गृहों की भाँति जिनालयों अर्थात् जैनमंदिरों के वर्णन भी लोक-विद्या के ग्रंथों और साहित्य में विस्तार से मिलते हैं। इन वर्णनो से ज्ञात होता है कि जैनमंदिर वास्तव में किस आकार-प्रकार का होना चाहिए। 'तिलोय-पण्णत्ती' का एक वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है—"भवनवासी देवों के भवनों का आकार सम-चतुष्कोण है। भवन की चारों दिशाओं में एक-एक वेदिका है" जिसके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम के उपवन हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक चैत्यवृक्ष की चारों दिशाओं मे तोरण, अष्टमंगल और मानस्तम्भ के साथ जिन-प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वेदिकाओं के मध्य मे महाकूट (विशाल टीले) और उन पर एक-एक जिनालय है।

जिनालय तीन प्राकारों (कोटों) के मध्य स्थित है।[56] प्रत्येक प्राकार की चारों दिशाओं में एक-एक गोपुर (विशाल प्रवेश-द्वार) है, इन प्राकारो के बीच की वीथियों (मार्गों) में एक-एक मान-स्तभ, नौ-नौ स्तूप, वन, ध्वजाएँ और चैत्य होते हैं। जिनालयों की चारों ओर के उपवनो मे तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएँ (कटावदार बावड़ियाँ) हैं। जिनालय महाध्वजाओं और क्षुद्रध्वजाओ से अलंकृत हैं। महाध्वजाओं में[51] माला, सिंह, गज, वृषभ, गरुड, मयूर, अम्बर (आकाश) हंस, कमल और चक्र की आकृतियाँ[52] चित्रित हैं।

जिनालयों मे[55] वंदन, अभिषेक, नृत्य, सगीत, और प्रकाश के लिए तो अलग-अलग मंडप होते ही हैं; क्रीडा-गृह, गुणन-गृह (स्वाध्याय-शाला) और पट्टशालाएँ (चित्र-शालाएँ) भी होती हैं। जिनालयों में जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त देवच्छन्द (देव-कुलिका, या दीवाल मे बना हुआ आला) मे अष्ट-मंगल (झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चामर, छत्र, व्यजन, सुप्रतिष्ठ अर्थात् पुस्तक रखने की रिहल) भी विराजमान होते हैं। जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की दोनों ओर चामरधारी नागों और यक्षों के युगल खड़े होते हैं।

ये जिनालय कम-से-कम सात भूमियों के होते हैं; जिनमें जन्म, अभिषेक, शयन, परिचर्या और मंत्रणा के लिए अलग-अलग शालाएँ हैं। उनमें सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह और लतागृह की विशेष व्यवस्था है। वहाँ जो तोरण, प्राकार, पुष्करिणी (कमल-सरोवर), वापिकाएँ, कूप, मत्तवारण (छज्जे), गवाक्ष (झरोखे) आदि हैं; वे सुंदर मूर्तियों से सज्जित हैं।

❑❑

मंदिरों के विविध रूप

चौबीसी-मंदिर

चतुर्विंशति जिनालय को हिंदी मे 'चौबीसी मंदिर' कहते हैं। शिल्प-कला में जो चतुर्विंशति-पट्ट (एक ही शिला पर चौबीसो तीर्थंकरो की मूर्तियाँ) का प्रचलन रहा है, उसी से इसप्रकार के मन्दिर के निर्माण की प्रेरणा संभवतः मिली होगी। एक ही मंदिर मे एक गर्भालय (कक्ष) में एक या अलग-अलग वेदियो पर एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित करने से उस मंदिर को 'चौबीसी मदिर' कहने लगते हैं। ऐसा मंदिर विशाल हो, तो उसमें प्रत्येक तीर्थंकर-मूर्ति के लिए एक पृथक् देव-कुलिका (वेदी के बराबर छोटा कक्ष) हो सकती है, या फिर एक पृथक् कक्ष हो सकता है।

देव-कुलिकाओं या कक्षो की संख्या चौबीस की जगह वास्तव मे पच्चीस होती है, आठ-आठ चारो दिशाओ मे और एक मध्य मे। मध्य मे कोई एक तीर्थंकर-मूर्ति मूलनायक के रूप में स्थापित की जाती है। उस मूर्ति की अपने क्रम की जो देव-कुलिकां या कक्ष खाली हो जाता है, उसमे सरस्वती की मूर्ति अर्थात् जिनवाणी स्थापित की जाती है। उल्लेखनीय है कि **तीर्थंकर-मूर्ति की जगह यदि किसी को देनी ही हो, तो जिनवाणी को दी जा सकती है, किसी अन्य देव या देवी की मूर्ति को नहीं; क्योंकि सरस्वती[26] तीर्थंकर के उपदेश, अर्थात् जिनवाणी, प्रतीक मानी गई है।**

गृह-मंदिर

आवास-गृह में भी धर्मस्थान या मंदिर के निर्माण का विधान वास्तु-विद्या में किया गया है। यह आवास-गृह मे पूर्व दिशा मे ऐसे स्थान पर बनाया जाए, जो गृह में प्रवेश करते समय बाएँ हाथ पर पड़े और जो अन्य स्थानों से नीचा नहीं हो। इस पर आधिपत्य गृहस्वामी का रहे और इसकी व्यवस्था भी वही करे; तथापि यह सबके लिए खुला रखा जाए। इसके अतिरिक्त सर्वोपरि यह ध्यान रखा जाए कि गृह-मंदिर के निर्माण में भी केवल न्यायोपार्जित धन का उपयोग हो।

गृह-मंदिरों का स्थापत्य अन्य मंदिरों की ही भाँति हो। गृह-मंदिर मे तीर्थंकर की मूर्ति अधिक-से-अधिक ग्यारह अंगुल ऊँची स्थापित की जाए। दो, चार, छह, आठ और दस अंगुल की मूर्तियाँ गृह-मंदिर में नहीं स्थापित की जाएँ; अन्यथा अशुभफल की संभावना रहेगी। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य, उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर महावीरस्वामी की मूर्तियाँ गृहमन्दिर में स्थापित करने का निषेध है;[61] क्योंकि ये **तीर्थंकर विशेषतः वैराग्य-वर्धक माने गये हैं।**[60]

निषीधिका : निसई या नसिया

निषीधिका', 'निषधिका' और 'निषद्या' शब्दो का एक ही अर्थ है: निसही या निसई या नसिया। यह वास्तव में किसी चरित्रधारी महापुरुष का शिला या स्तंभ या मडप के रूप में स्मारक होता है, जिससे उसे मन्दिर की भाँति महत्त्व दिया जाता है। आश्चर्य नहीं, यदि प्राचीन जैन स्तूप विशाल निषीधिकाएँ ही रहे हों। जैन साहित्य मे स्मारक, समाधि, मक़बरा आदि शब्दों का चलन नहीं हुआ; क्योकि ज़ैन आचार-विचार मे स्मारक-पूजन या गोर-परस्ती का विधान नहीं है; इसीलिए जैन समाज में 'निषीधिका' के रूप मे एक अलग शब्द प्रचलित हुआ।

प्राकृतभाषा मे 'णिसीधिया' और 'णिसीहिया' शब्दों का प्रयोग करते हुए आचार्य शिवकोटि (दूसरा नाम शिवार्य) ने लगभग दो हजार वर्ष पूर्व 'मूलाराधना' (दूसरा नाम 'भगवती आराधना') में (गाथा 1967 से 1973) और उसके छह-सात टीकाकारों ने, निषिधिका के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से लिखा है। आचार्य वट्टकेर आदि ने भी लिखा है।

चरित्रधारी महापुरुष अर्थात् साधु के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति का स्मारक चरण-चिह्न या किसी अन्य रूप मे बनाने का विधान जैन-वास्तुविद्या या शिल्प-शास्त्र मे नहीं है। साधु का स्मारक भी चरण-चिह्न के रूप में बनाया जाए, न कि मूर्ति या मन्दिर के रूप में।

पाषाण पर उत्कीर्ण चरण-चिह्न निषीधिका के आदिमरूप माने जा सकते है; जिन पर कालान्तर मे मंडप, गुमटी, टोक आदि बनाए जाने लगे। पास में मन्दिर आदि के निर्माण से निषीधिकाओं का महत्त्व बढा। अतिशय, चमत्कार, मंत्र-तंत्र आदि के जुड़ जाने से निषीधिकाओ ने लोकप्रिय स्थानों का रूप ले लिया।

प्रतीकात्मक मंदिर

जैनमदिर समवसरण के प्रतीक है; परतु कुछ जैनमदिर नंदीश्वरद्वीप, सहस्रकूट आदि के भी प्रतीक माने जा सकते है। जैनमदिरो के जो चौसठ प्रकार 'प्रासाद-मडन' आदि मे बताए गए है, उनका सूक्ष्म अध्ययन करने पर कुछ और प्रतीकात्मक मदिरो का ज्ञान हो सकता है। इसीप्रकार के मंदिरो मे नदीश्वरद्वीप मदिर के अतिरिक्त अन्य किसी मदिर का स्पष्ट लक्षणों और विशेषताओ के साथ निर्माण या मूर्ति-शिल्प मे अंकन बहुत ही कम हुआ है।

विश्वकर्मा ने 'दीपार्णव' के बीसवे अध्याय मे पूर्वोक्त बावन जिनप्रासादो का वर्णन किया है, वे वास्तव मे नदीश्वरद्वीप का प्रतिनिधित्व करते हैं; यद्यपि उनका अलग-अलग स्वरूप बताया गया है। जैन भूगोल मे मध्यलोक के आठवे द्वीप का नाम 'नन्दीश्वर' है। स्थापत्य मे नन्दीश्वरद्वीप के अनुसरण पर मदिर बनाने की परपरा रही है। शिलापट्टो पर भी इनका अकन होता रहा है। इस द्वीप मे प्रत्येक दिशा मे तेरह-तेरह अकृत्रिम मंदिर, कुल बावन मदिर होते हैं। आष्टाह्निक या अठाई पर्व के रूप मे वर्ष मे तीन बार इन बावन मदिरो मे स्थित जिन-मूर्तियो की पूजा का प्रचलन है।[62]

सहस्रकूट

सहस्रकूट भी जैनमदिरो का एक प्रकार है, जिसमे एक हजार कूट (शिखरयुक्त मंदिर) होना चाहिए। इसप्रकार का मंदिर उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थ देवगढ (जिला—ललितपुर) में विद्यमान है। यद्यपि उसमे शिखरयुक्त मदिरो का अलग निर्माण नहीं है, बल्कि जो मंदिर है, उसी की बाह्य भित्ति पर एक हजार लघु मदिर उत्कीर्ण कर दिए गए है। बलात्कारगण दिगम्बर जैन मन्दिर, कारजा (महाराष्ट्र) मे सहस्रकूट-चैत्यालय की एक सुन्दर कास्यमूर्ति है। मध्यप्रदेश के रायपुर मे महत घासीदास स्मारक संग्रहालय मे भी एक खडित शिल्प-रचना है, जिसे 'सहस्रकूट' कह सकते है। कल्याण भवन, तुकोगज, इदौर के शातिनाथ दि० जैन मदिर में भी सहस्रकूट-चैत्यालय है।

स्तूप : जैन स्थापत्य की अनूठी देन

प्राचीन भारतीय स्थापत्य मे स्तूपो के निर्माण की परम्परा थी। `यह

परम्परा कदाचित् मथुरा से प्रचलित हुई, जहाँ एक अत्यत प्राचीन स्तूप के अवशेष मिले हैं। उनमे एक प्राचीन शिलालेख भी मिला है, जिसमे कहा गया है कि "वह स्तूप देवो के द्वारा निर्मित किया गया था"; —इसका अर्थ यह है कि उस समय वह स्तूप इतना प्राचीन हो चुका था कि लोग उसके निर्माता का नाम भूल चुके थे और उसे देवों की रचना मानने लगे थे। इस दृष्टि से कहना होगा कि उस स्तूप का निर्माण तीर्थंकर महावीर से भी पूर्व, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में हुआ होगा। प्रमुख वास्तुविद्यावेत्ताओं ने उसे भारतीय स्थापत्य की प्राचीनतम रचना माना है।

भारत मे जो प्राचीन, बल्कि प्रागैतिहासिक काल के निर्माणों के अवशेष मिले है, उनमे मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त पुरातात्त्विक महत्त्व की सामग्री अन्यतम है; जिसका तात्पर्य है कि भारत के धार्मिक वास्तु-निर्माण में भी जैन समाज अग्रणी रहा, मूर्ति-निर्माण मे तो वह अग्रणी रहा ही है। पटना के समीप लोहानीपुर मे तीर्थंकरों की पाषाण-मूर्तियाँ बनायी गयीं, जिनका समय ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मौर्य-काल के आरभ में ऑका गया है।

आयाग-पटों पर उत्कीर्ण स्तूप

वास्तु-विद्या मे स्तूपों के निर्माण का या उनके आकार-प्रकार का उल्लेख नहीं है, परन्तु साहित्य मे इसके कई उल्लेख हैं। तथा मथुरा से ही प्राप्त दो आयाग-पटों पर साहित्य से भी अधिक स्पष्ट चित्रण हुआ है। लगभग दो फुट लबी और उतनी ही चौड़ी पाषाण की नक्काशीदार शिलाएँ 'आयागपट' कहलाती हैं, जिनका उपयोग दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले मथुरा में बहुत होता था।

मथुरा में खुदाई (एक्स्केवेशन) में मिले उक्त स्तूप के खडहर से ज्ञात होता है कि उसका तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास 47 फुट था। उसमे केंद्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली 8 दीवालें ईंटो से चुनी गई थीं। ईंटें छोटी-बड़ी हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएँ थीं। पूरा स्तूप कैसा था? —इसका कुछ अनुमान उसकी खुदाई से प्राप्त सामग्री से लगता है। अनेक प्रकार के मूर्त्यंकनों से युक्त जो पाषाण-स्तंभ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास प्रदक्षिणा-पथ और तोरणद्वार रहे होंगे। उक्त आयाग-पटों पर अंकित स्तूप भी यही आभास देते हैं, जो

उसीप्रकार की पट्टिकाओं से घिरे दिखाए गए है और जिनके तोरणद्वार पर पहुँचने के लिए सात-आठ सीढ़ियाँ उत्कीर्ण की गई है।

राजकीय सग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित आयाग-पट (क्यू 2) में तोरण दो खड़े स्तभो से बना है, जिनके ऊपर थोड़े-थोडे अंतर से एक पर एक तीन आड़ी कडियाँ हैं। इनमें निचली कड़ी के दोनों छोर मकराकृति सिंहो पर आधारित है। स्तूप के दाएँ-बाएँ दो सुंदर स्तभ हैं, जिन पर क्रमशः धर्मचक्र और बैठे हुए सिहो की आकृतियाँ बनी है। ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतियाँ सभवतः चारण मुनियो की हैं। वे नग्न हैं, किंतु उनके बाएँ हाथ मे पीछी जैसी वस्तु एव कमंडल दिखाई देते हैं; उनका दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार-मुद्रा में है। एक और आकृति युगल-गरुड पक्षियो की है, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दाई ओर गरुड एक पुष्पगुच्छ व बांयी ओर का पुष्पमाला लिए हैं। स्तूप के गुम्बज की दोनों ओर हाव-भाव के साथ झुकी हुई नारी-आकृतियाँ हैं। घेरे के नीचे सीढ़ियो की दोनों ओर एक-एक देवकुलिका है। दाई ओर की देवकुलिका मे एक बालक सहित पुरुषाकृति और दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है।

स्तूप की गुम्मट पर छह पक्तियो मे **प्राकृतभाषा** मे लेख है, जिसमे अरिहत वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि 'श्रमण-श्राविका **आर्या लवणशोभिका** की पुत्री **वासु** ने जिनमन्दिर में अरिहत की पूजा के लिए अपनी माता, भगिनी तथा दुहितापुत्र (नाती) के साथ निर्ग्रंथो के अरिहंत आयतन मे अरिहंत का देवकुल (देवालय), आयाग-सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराए। यह शिलापट 2 फुट 1 इच x पौने दो फुट है। यह अक्षरो की आकृति और मूल्यांकन की दृष्टि से प्रथम-द्वितीय शती ई०, अर्थात् 'कुषाण-काल' का होना चाहिए।

राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित दूसरे आयागपट (जे 255) का ऊपरी भाग टूट गया है; तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ (वीढ़ियाँ) एवं स्तूप की दोनों ओर नारी-मूर्तियाँ इसमें पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक स्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है, जिसमें अरिहंतों को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि **फगुयश** नामक व्यक्ति की भार्या **शिवयशा** ने अरिहंत-पूजा के लिए यह आयागपट बनवाया। लगभग 200 ई.पू. का यह आयागपट सिद्ध करता है कि स्तूपों का प्रचार जैन-परम्परा में उससे बहुत पहले से था।

कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नहीं मिले, उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि स्तूप प्रायः किसी महापुरुष के अवशेषों पर बनाए जाते थे; जैन समाज में अवशेषों को सुरक्षित रखने का चलन नहीं होने से स्तूपों का भी चलन आगे नहीं बढ़ सका। **दूसरे** गुफा-चैत्यों और मंदिरों के अधिक प्रचार के कारण स्तूपों का नया निर्माण रुक गया, और प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। **तीसरे** मन्दिर-वास्तु में विस्तार, विभिन्न मडप, साज-सज्जा आदि का असीमित अवकाश होता है; जो स्तूप में नहीं होता है; इसलिए धीर-धीरे स्तूप का चलन बंद हो गया। **चौथे** उपर्युक्त स्तूप के आकार-प्रकार से स्पष्ट है कि **बौद्ध और जैन स्तूपों के आकार-प्रकार में एकरूपता के कारण कई जैनस्तूप बौद्धस्तूप मान** लिए गए। ❑❑

नगर-विन्यास

नगर-विन्यास और उसके कुछ उदाहरण

ग्राम, पुर, नगर आदि बसाए जाने के; उनके भवनो, मार्गों, बाज़ारों आदि के और जन-जीवन के विवरण जैन-साहित्य में इतनी अधिक संख्या में हैं कि उनसे नगर-विन्यास की एक स्पष्ट रूपरेखा बन सकती है। उन विवरणों मे जो स्थापत्य और मूर्ति-कला से सबद्ध पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योकि उससे देश के विभिन्न भागों में लिखे गये स्थापत्य और मूर्ति-कला के ग्रथों के क्रमिक विकास और उनके व्यावहारिक प्रयोग के तुलनात्मक अध्ययन मे सहायता मिलती है। --इस उल्लेखनीय तथ्य से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि प्राचीन जैन ग्रंथकार विधि-निषेधो की तालिकाएँ बना देने मात्र की अपेक्षा दैनदिन के जीवन को अधिक महत्त्व देते थे।

ग्रामों और नगरों के भेद

आचार्य जिनसेन ने 'आदिपुराण' के सोलहवें पर्व मे लघुतम गाँव से लेकर वृहत्तम नगर तक की बस्तियो के वर्ग बनाये और उनकी परिभाषाएँ (श्लो. 164-76) दी है। सरोवर के किनारे बगीचे मे शूद्रों और किसानो की बाड़ से घिरी बस्ती 'ग्राम' है। 'ग्राम' में सौ परिवार भी हो सकते हैं और पाँच सौ समृद्ध किसान-परिवार भी। नदी, पहाड़, गुफा, वृक्ष आदि से ग्रामो की सीमा निर्धारित होती है।

परिखा, गोपुर, अटारी, कोट, प्राकार, भवन, उद्यान, जलाशय आदि के साथ ऊँचाई पर बसा स्थान 'पुर' है; जिसमें जल का प्रवाह पूर्व से उत्तर की ओर हो (पूर्वोत्तर-प्लावाम्भस्क) और प्रधानपुरुष रहा करते हों।

नदी और पर्वत के बीच की बस्ती 'खेट', पर्वतो के बीच की बस्ती 'खर्वट', पाँच सौ ग्रामों से घिरी बस्ती 'मडंब', नावो से पहुँचने योग्य समुद्र-तटीय बस्ती 'पत्तन', नदी-तट की बस्ती 'द्रोण-मुख', जिसमें पैदा हुए धान्य के पुरुष-प्रमाण के ढेर लग जाते हो--ऐसी बस्ती 'सवाह', दस ग्रामों के

मध्य की बस्ती 'संग्रह', अहीरों की बसती 'घोष', तथा जिसमे सोने-चाँदी आदि की खानें हों—ऐसी बस्ती 'आकर' कही जाती है।

वैशाली नगरी का वर्णन

वैशाली नगरी का नाम सर्वप्रथम तीर्थंकर महावीर कालीन एक मुद्रा में प्राप्त होता है जो कि भूगर्भ से उत्खनन में प्राप्त हुई। बौद्धग्रंथों में भी वैशाली नगरी के बारे में महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री नेमिचन्द्र सूरि विरचित **'महावीर चरियं'** नामक ग्रंथ में कहा गया है कि वैशाली नामक नगर इस भूतल पर उसी तरह से सर्वश्रेष्ठ था, जैसे कि किसी रमणी के मस्तक पर तिलक सुशोभित होता है। वैशाली नगर के बारे में कहा गया है कि ***"विशाला वसुधा यत्र, तत्र वैशालीपुरम्"***। यह वैशाली नगरी लिच्छवियों की राजधानी थी, जो कि भारतवर्ष में गणतंत्र-परंपरा के जनक माने जाते हैं। बौद्धग्रंथ 'महावस्तु' में वैशाली नगरी को लिच्छवियों का गणतत्र माना गया है। यह क्षेत्र बिहार प्रांत में गंगा के उत्तर तटवर्ती प्रदेश में स्थित था।

आचार्य गुणभद्र 'उत्तरपुराण' (75/3) में वैशाली नगरी का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि "वैशाली नगर अनेक नदियों से घिरा हुआ था एव अत्यत समृद्ध नगर था।" मोक्षप्राभृत के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर सूरि वैशाली का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "नदियों के देश में स्थित वैशाली नामक पत्तन में चेटक महाराज राज्य करते थे।" इन सबसे वैशाली नगरी की भूमि की उदात्तता का बोध होता है। इस वैशाली नगरी में कुल ब्यालीस हजार मकान थे तथा प्रत्येक मकान मे उद्यान एवं तालाब बने हुए थे। इन मकानों मे कुल एक लाख अड़सठ हजार अंतरंग एवं बहिरंग नागरिक निवास करते थे जो कि अपने-अपने स्तर के अनुरूप भवनों में रहते थे। वैशाली नगर में उच्चस्तर के लोगों के लिए सात हजार स्वर्णमंडित गुम्बदवाले, मध्यमवर्ग के लोगों के लिए चौदह हजार रजतमंडित गुम्बदवाले तथा साधारणवर्ग के लोगो के लिए इक्कीस हजार ताम्रमंडित गुम्बदवाले भवन थे। तथापि वहाँ पर नीच-ऊँच का भेद नहीं था। बौद्धग्रंथ 'ललितविस्तर' के अनुसार 'वैशाली नगर का प्रत्येक नागरिक अपने आपको राजा के समान अनुभव करता था।' एक अन्य बौद्धग्रंथ 'महापरिनिव्वाणसुत्त' में महात्मा बुद्ध ने लिखा है कि "यह वैशाली नगरी लिच्छवियों के स्वर्ग के

समान प्रतीत होती है तथा इसकी लिच्छवी-परिषद् 'देवताओं की परिषद्' के समान आनंदकारी लगते हैं।" —इससे स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध बोधि-प्राप्ति के बाद भी वैशाली नगर की गरिमा को देखकर कितने भाव-विभोर हो गए थे।

नगर-विन्यास : एक अनुचिंतन

वैशालीनगरी के वर्णन के समान ही अन्य कई नगरियों के वर्णन जैनग्रन्थो में प्राप्त होते हैं। ऐसे वर्णनों में 'द्वितीय जम्बूद्वीप' की पाताल नगरियों के वर्णन नगर-विन्यास आदि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

'द्वितीय जंबू-द्वीप' का वर्णन 'तिलोयपण्णत्ती' पर आधारित है, जिसका लेखन 176 ई. से 609 ई. के मध्य 'गुप्तकाल' मे या उसके कुछ पूर्व हुआ था। यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग था; 'तिलोयपण्णत्ती' के प्रायः सभी वर्णन इसके प्रमाण हैं। उसमें स्थान-स्थान पर उल्लिखित विभिन्न प्रकार की नगर-योजनाएँ और भवनों की विन्यास-रेखाएँ (ले आउट प्लान) संस्कृति और पुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। नगरियाँ योजनों लंबी-चौड़ी होती थीं। जैनमंदिर और उपवन उनमें अवश्य होते थे। प्राकारों और गोपुरों की अनिवार्यता थी। भवन और प्राकार न केवल ऊँचे होते थे, उनकी नींव भी बहुत गहरी (अवगाह) खोदी जाती थी।

राजांगण एक विशाल, सर्व-सुविधा-सपन्न, सुदृढ़ और अलंकृत दुर्ग होता था; जिसकी चारो ओर योजनाबद्ध भवनों की पंक्तियाँ होती थीं। नगरी मे ज्यों-ज्यों बाहर से भीतर की ओर बढ़ा जाता, त्यों-त्यों भवनों की ऊँचाई भी बढ़ती जाती थी। भवनों की गणना रेखागणित के आधार पर की जा सकती थी। सार्वजनिक उपयोग के लिए सभागृह (विशाल हाल) होते थे। उनमें से सुधर्मा सभा, उपपाद सभा, अभिषेक सभा, अलंकार सभा और मत्र सभा उल्लेखनीय थीं। भवनों की साजसज्जा रत्नों, स्वर्ण, चित्रकारी, पताकाओं आदि द्वारा होती थी और उनमें नृत्य, संगीत आदि के आयोजन होते रहते थे। उपवनो में अशोक, सप्तपर्ण, चंपक, आम आदि की प्रधानता थी। चैत्यवृक्ष को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

'गुप्त युग' के जो कुछ मंदिर आज भी ध्वसावशिष्ट हैं, उन्हें देखकर यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उस समय यहाँ भवन-निर्माण कला इतनी विकसित हो चुकी थी। परंतु दूसरी ओर काल का कराल परिपाक

मौसम के निर्दय थपेड़ों और आततायियों की निर्मम तोड़-फोड़ का स्मरण आते ही मंजूर करना पड़ता है कि 'तिलोयपण्णत्ती' और तत्सदृश ग्रंथों के विवरण कागज़ पर ही न रहते होंगे, उन पर अमल भी किया जाता होगा।

उक्त लेख में आए विवरणों से देवों के रहन-सहन, तौर-तरीकों, धार्मिक मान्यता, वर्ग-विभाग आदि पर विशद प्रकाश पड़ता है। यदि इन विवरणों का आदर्श तत्कालीन मनुष्यों से लिया गया माना जाए; तो गुप्तकालीन संस्कृति और सभ्यता हमारे समक्ष और भी अधिक विस्तृत, स्पष्टतर एवं सप्रमाण हो उठेगी। 'विजय' नामक देव तत्कालीन सम्राट् का तो नहीं, पर उनके एक औसत क्षत्रप या सामंत का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है। इस लेख में आए विवरण स्त्रियों की दशा पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। वे विविध कलाओं में निपुण होती थीं। बहुपत्नी प्रथा का उन दिनों ज़ोरदार प्रचलन था, परन्तु स्त्रियों और पुरुषों में सदाचार पर बल दिया जाता था।

इन विवरणों से तत्कालीन धार्मिक मान्यता का भी अच्छा परिज्ञान होता है। प्रत्येक नगरी मे जैनमंदिर अवश्य हुआ करता था। जैनमदिरों में समय–समय पर धर्मोत्सवों का आयोजन हुआ करते थे। 'सुधर्मा सभा' कदाचित् धार्मिक व्याख्यानो और स्वाध्याय के उपयोग में आती थी। इसीप्रकार 'अभिषेक सभा' मे कदाचित् तीर्थंकर की मूर्ति के अभिषेक आदि अनुष्ठान संपन्न होते थे।

'तिलोयपण्णत्ती' मे द्वितीय जबूद्वीप आदि कुछ और भी ऐसे विषय हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता–इस दृष्टि से भी यह ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आशा है, इस तथा ऐसे ही अन्य ग्रंथों को धार्मिक अध्ययन के अतिरिक्त वास्तु-विद्या, इतिहास, भूगोल, खगोल, संस्कृति, समाज आदि के अध्ययन का भी विषय बनाया जाएगा।

□□

जीर्णोद्धार का विधान

जीर्णोद्धार की परम्परा

जीर्णोद्धार (मरम्मत या रिपेयर) की परम्परा भारतीय कला और स्थापत्य मे प्राचीनकाल से रही है। मथुरा, सॉची, सारनाथ, भरहुत, अमरावती आदि के स्तूपों का विविधरूपो मे किया गया विस्तार उन्हे जीर्ण होने से बचाने के लिए था। अजंता के प्रथम शताब्दी ईस्वी में बने भित्तिचित्रो पर छठी और उसके बाद की शताब्दियों मे बनाए गए भित्तिचित्र भी जीर्णोद्धार की सीमा में लाए जा सकते है। मंदिरो[63] आदि के जीर्णोद्वार[64] के स्पष्ट उल्लेख शताधिक शिलालेखो मे विद्यमान है।

इसके विपरीत मूर्तियो के जीर्णोद्वार के उदाहरण न प्राचीनकाल के मिलते हैं और न मध्यकाल के। मूर्तियो की स्थापना या प्रतिष्ठा के सहस्रो उल्लेख शिलालेखो और मूर्तिलेखो मे है; किंतु उनके जीर्णोद्धार के तो क्या, पुनः प्रतिष्ठा के भी उल्लेख नगण्य हैं। इसीप्रकार मूर्तिशास्त्रो में भी मूर्तियों के जीर्णोद्वार के विधान नगण्य है।

जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार

मदिरों के निर्माण के पश्चात् उनके रखरखाव और सुरक्षा की चिंता उनके निर्माताओं को बहुत रहती थी; इसलिए वे उन मदिरो को पर्याप्त सम्पत्ति दे देते थे, जिसकी आय से उनका रखरखाव होता रहे। तो भी उन्होने उन मदिरों के भविष्यकालीन संरक्षको से बहुत की मार्मिक शब्दो मे अनुरोध किया है कि "वे उनका सरक्षण अपनी ही रचना समझकर करते रहे", जिसके लिए वे (निर्माता) अपने आपको उन (तत्कालीन संरक्षको) के 'दासो का भी दास' (तस्य दासानुदासोहम्) घोषित करते हैं। जो उस मदिर को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाएँ, उनके विरुद्ध अत्यंत कठोर और भर्त्सनापूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है कि 'वे आततायी मरकर नरक मे सडेगे और मल के कीडे बनेगे।'

जैनमदिरों के जीर्णोद्धार का परामर्श कदाचित् सर्वप्रथम पडित

आशाधर ने 'प्रतिष्ठा–सारोद्धार' के आरंभ मे ही दिया है, "**जिन-चैत्य-गृहं जीर्णमुद्धार्यं च विशेषतः।**" तीर्थंकर की पूजा के जो पाँच प्रकार है, उनमे प्रथम है **नित्यमह**। जो पुण्यार्थी 'नित्यमह' पूजा करना चाहे, वे जैन मदिरो का निर्माण कराएँ, परंतु विशेषता यह होगी कि वे पुराने मदिर का उद्धार कराएँ। जीर्णोद्धार के समय ध्यान रहे कि मुख्यद्वार जरा भी इधर-उधर परिवर्तित ना किया जाय, वह जिस दिशा मे, जिस स्थान पर, जिस नाप का हो; उसी दिशा में, स्थान पर और नाप का रखा जाए।

आश्चर्य है कि मदिरों के जीर्णोद्धार के जो उल्लेख या उदाहरण शिलालेखो आदि मे मिलते है, उनमे अधिकाश जैन है। आज भी प्राचीन या खंडहर पूजास्थल के जीर्णोद्धार की प्रथा सर्वाधिक जैनो मे दिखती है।

इस संदर्भ मे प्रसिद्ध विद्वान् जेम्स फ़र्गुसन का निष्कर्ष उल्लेखनीय है, जो उन्होने 'हिस्ट्री ऑफ इडियन एड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' मे व्यक्त किया है: "हिन्दू मन्दिर या मुसलमानों की मस्जिद अपवित्र कर दी जाये अथवा खडहर हो जाए, तो कोई उसका जीर्णोद्धार नहीं कराएगा; वरन् उसकी सामग्री का उपयोग करके नए-से-नए फ़ैशन का मंदिर या मस्जिद बना ली जाएगी। जैनो मे यह बात नही है। कोई जैन एकदम नया मदिर बनाने में समर्थ न हो, पर इतना समर्थ तो होगा ही कि वह किसी पुराने मदिर का जीर्णोद्धार कर दे; क्योकि वे जीर्णोद्धार मे भी नया मदिर बनाने के बराबर पुण्य मानते है, जैसा कि हम (अग्रेज) लोग भी आमतौर पर मानते हैं; परतु जीर्णोद्धार का उन (जैनो) का तरीका यह है कि वे चूना की मोटी परत चढाकर मंदिर की समूची बाहरी दीवाल की सजावट ढक देते है, जिससे उसकी रूपरेखा भर दिखती रह जाती है। भीतरी दीवालो पर भी आम तौर पर परत-दर-परत सफेदी करा दी जाती है, जिससे उसकी कला प्रभावहीन हो जाती है, यद्यपि वह सफेदी किसी हद तक हटाई जा सकती है।"

जैन-मूर्तियों का जीर्णोद्धार

यह भी आश्चर्यजनक है कि मदिरो के जीर्णोद्धार में सबसे आगे रहनेवाले जैन लोग[65] मूर्तियों के जीर्णोद्धार के पक्ष मे बहुत कम रहे, तभी तो उसकी परम्परा पुरातत्त्व में भी अदृश्य है और साहित्य मे भी।

खंडित हो जाने पर मूर्ति को जल मे विसर्जित करने की प्रथा कदाचित् इसीलिए चली होगी कि उसके जीर्णोद्धार का विधान नगण्य था।

बाद मे इस सदर्भ मे जो विधान किए गए, वे जीर्णोद्धार के पक्ष मे कम और विपक्ष मे अधिक प्रतीत होते हैं।[66] उन विधाओ से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूर्ति का जीर्णोद्धार उसी हद तक उचित है, जिस हद तक मानव-शरीर की शल्य-क्रिया; शरीर की भाँति मूर्ति का भी अगुलि आदि छोटा अग कट-फट जाने पर उसका उपचार या जीर्णोद्धार कराया जा सकता है, लेकिन हाथ-पैर आदि बडा अग कट जाने पर किया गया उपचार उसे मौलिकरूप मे कभी नही ला सकता।

मूर्तियो के जीर्णोद्धार का विधान शायद सबसे पहले ग्यारहवीं शताब्दी के अत मे आचार्य विश्वकर्मा ने 'दीपार्णव ग्रथ' के 'जिन-दर्शन' नामक इक्कीसवें अध्याय के पाँच श्लोको मे किया।[67] इन श्लोको का अर्थ है: नख, केश, आभूषण आदि और शस्त्र, वस्त्र आदि अलकार के खंडित होने से विषम (व्यगित) हुई मूर्ति से मगल की कामना नही करनी चाहिए; बल्कि शांति, पुष्टि आदि कराकर उसे पुनः समरूप बनवाकर रथोत्सव करना चाहिए, उसके बाद पूजा की जाने पर ही वह मूर्ति शुभकारक होगी।

परतु अग, उपाग और प्रत्यग के व्यगित (खंडित) होने से दूषित हुई मूर्ति का विसर्जन कर देना चाहिए और उसके स्थान पर दूसरी मूर्ति स्थापित कर देना चाहिए; क्योकि जो मूर्तियाँ खडित हो जाएँ, जल जाएँ, चटक जाएँ या फट जाएँ; उनका मंत्र द्वारा संस्कार नहीं हो सकता, उनमें से देवत्वशक्ति चली जाती है। उत्तम पुरुषो द्वारा स्थापित की गई प्राचीन मूर्ति व्यगित होने पर भी पूज्य रहेगी, उसकी पूजा निष्फल नहीं होगी।

'वत्थु-सार-पयरण' मे भी तीन गाथाओं में मूर्तियो के जीर्णोद्धार का विधान है।[68] उत्तम पुरुषों द्वारा स्थापित प्रतिमा यदि पुरानी हो चुकी हो, तो वह व्यगित हो जाने पर भी पूजी जाती रहे; उसे पूजना निष्फल नही होगा।

जीर्णोद्धार का मनोविज्ञान

मदिरो और मूर्तियों के जीर्णोद्धार के पीछे जो मनोविज्ञान होता है, उसका विश्लेषण उपर्युक्त पुस्तक, 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन एड ईस्टर्न आर्किटेक्चर', के पृष्ठ 68 पर सुदर ढग से हुआ है; उसका अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है: 'किसी स्थापत्य-शैली मे पाँच-छह शताब्दियों से लगातार हो रहे एक-जैसे परिवर्तन देखते-देखते किसी भी देश में एक ऐसी आदत पनप

जाती है, जिससे वह ताज़ातर फ़ैशन को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगता है। यह परिवर्तन इतना क्रमिक होता है कि लोग समझ ही नहीं पाते कि वे वास्तविकता से भटककर कितनी दूर जा पहुँचे हैं। यूरोप के लोगों में ऐसी आदत नही पनप सकी, वे केवल परिणाम पर दृष्टि रखते हैं; वे उन सीढ़ियों पर नज़र नहीं डालते, जिनसे होकर परिवर्तन आया होता है। जब उन्हे पता लगता है कि वह स्थापत्य-शैली अपने वास्तविकरूप से भटककर बहुत दूर जा पहुँची है, तब उन्हे धक्का लगता है; वे उस परिवर्तन में रच-बस नहीं पाते, इसलिए उसकी भर्त्सना करने लगते हैं। ठीक यही बात हिंदू स्थापत्य की दस मे से नौ बातो पर लागू होती है। हममें से बहुत कम ऐसे है, जो यह जानते है कि अपनी अतिश्रेष्ठ मध्यकालीन कला का मूल्य समझने के लिए कितनी समझबूझ चाहिए होती है; इसीलिए बहुत कम लोग यह समझते हैं कि भारतीय शिल्प-शैलियों की भर्त्सना के पीछे व्यवस्थित और नियमानुसार समझबूझ की अत्यन्त कमी हुआ करती है।'

❑❑

उद्धरण और संदर्भ

1. 'वस निवासे' नामक परस्मैपदी धातु, पाणिनि व्याकरण के अनुसार प्रथम गण, भ्वादि, में (*सिद्धान्त कौमुदी*, 1074वाँ स्थान) परिगणित है

*

2. क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः।

(–तत्त्वार्थ–सूत्र, अध्याय 7, सूत्र 29।)

*

3. श्यामसुंदरदास, हिंदी-शब्दसागर (चौथा भाग), पृ. 3722, वाराणसी (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा,) 1928।

*

4. विश्वकर्मा जगज्-ज्येष्ठो विश्वमूतिर्-जिनेश्वरः,
विश्वदृग् विश्व–भूतेशो विश्व–ज्योतिरनीश्वरः। *(–वही, 25, 103।)*

*

5. विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादि-नामभिः,
प्रजास्त व्याहरन्ति स्म जगता पतिमच्युतम्।

(–आचार्य जिनसेन, आदि–पुराण, 16, 267।)

*

6. ब्रह्मा देवानां प्रथमः सबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता,
स ब्रह्म-विद्यां प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राहम्। *(मुण्डकोपनिषद्)*

*

7. असिर्मसी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजा-जीवन-हेतवः।।

(–आचार्य जिनसेन, महापुराण आदि–पुराण,16/179।)

*

8. (–गोपीलाल अमर का लेख 'ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी और ब्रह्म-पुत्री सरस्वती', महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर।)

*

9. तेणं लिवी-विहाणं जिणेण बंभीए दाहिण-करेण।
गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं।।

(—अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 2, पृ० 1126।)

*

10. यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।

(—आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, श्लोक 43।)

*

11. आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।
श्रीषेण-वृषभसैनी कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्तस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः।।

(—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 117/8।)

*

12. वत्थु-विज्ज भूमि-सबंधमण्णं पि सुहासुहं कारणं वण्णेदि।

(—आचार्य वीरसेन, षट्खण्डागम—धवला—टीका, 1, 1, 13।)

*

13. जेम्स फर्गुसन, हिस्ट्री ऑव् इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग 2, पृ. 68 आदि, लदन (जॉन मरे, अल्बेमार्ले स्ट्रीट, डब्लू.), 1910; तथा अन्य।

*

14. जैनं चैत्यालयं चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम्,
वाछन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तु-शास्त्रं न लंप्पयेत्।

(—पंडित आशाधर सूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, श्लोक 1, 17।)

*

15 शास्त्र-मानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि,
शास्त्र-मान-विहीनं यदरम्यं तद् विपश्चितम्।

(—शुक्र-नीति, 4, 527।)

*

16. निपातयन्ती तरले विलोचने सजीव-चित्रासु निवास-भित्तिसु।
नवा वधूर्यत्र जनाभिशकया न गाढमालिंगति जीवितेश्वरम्।।

(—महाकवि वीरनदी, चद्रप्रभ—चरित, 1।)

*

17. जिण-भवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु,
अह टिक्कइ आराहणहं होई समाहिति आणु।

(—आचार्य देवसेन, *सावय—धंम—संगह*, 193।)

✳

18. यस्यार्थं क्रियते पूजा वास्तु-देवा धराधिपाः,
शान्तिके पौष्टिके चैव सर्व-विघ्नोपशान्तये।

(—पंडित आशाधर, *पूजा-पाठ*, पृष्ठ 163।)

✳

19. सर्वेषु वास्तुषु सदा निवसन्तमेनं
श्री-वास्तु-देवमखिलस्य कृतोपकारम्,
प्रागेव वास्तु-विधि-कल्पित-यज्ञभाग—
मीशान-कोण-दिशि पूजनया धिनोमि। *(—वास्तु, 3, 61।)*

✳

20. गृह हि गृहिणीमाहुर्-न कुड्य-कट-संहतिम्।

(—पंडित आशाधर, *सागार-धर्मामृत*।)

✳

21. उपरि-तल—निपातितेष्टकोयं शिरसि तनुर्-विपुलश्-च मध्य-देशे,
असदृश-जन-संप्रयोग-भीरोर्-हृदयमिव स्फुटितं महा-गृहस्य।
वैदेश्येन कृतो भवेन् मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान् धनैर्-विरहितं विस्रब्ध-सुप्तं जनम्,
दृष्ट्वा प्राङ् महतीं निवास-रचनामस्माकमाशान्वितः
सन्धिच्छेदन-खिन्न एव सुचिरं पश्चान् निराशो गतः।

(—नाटककार शूद्रक, *मृच्छकटिक*, अंक 3, श्लोक 22-23।)

✳

22. ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे,
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्।
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः,
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।। (—ऋग्वेद, 10/173/4-5।)

✳

23. यो ध्रुवाणि परिच्चज्ज, अद्धुवं परिसेवए।
ध्रुवाणि तस्स णस्संति अद्धुवं णट्ठमेव च।।

✳

24. ज्योतिषे तन्त्र-शास्त्रे च शास्त्रार्थे वैद्य-शिल्पयोः,
अर्थ-मात्रं तु गृह्णीयान्-नात्र शब्दं विचारयेत्।

*

25. वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्-यस्य वचः प्रमाणम्,
धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायां महजनो येन गतः स पन्थाः। *(—महाभारत।)*

*

26. जाता सर्वज्ञ-वक्त्राद् गणधर-निकरैर्-विस्तृता वीध्र-बोधै-
रगोपांदि-भेदैस्-तदनु मुनि-जनैश्-चापि दृग्-भा-विशेषात्,
श्रेयोमार्ग-प्रकाशे स्फुट-रुचि-विलसद्-दीपिका-सर्व-लोक-
व्यापारस्य प्रमात्रा त्रिभुवन-महिता शारदा पूज्यतेथ।

(—पंडित आशाधर, पूजा—पाठ (श्रुत-पूजा), पृष्ठ 167।)

*

27. आगे 'सहायक ग्रथ' के अंतर्गत द्रष्टव्य।

*

28. देशः पुरं निवासश्च सभा-वेश्मासनानि च,
यद् यदीदृशमन्यच्च तत् तच्छ्रेयस्कर मतम्।
वास्तु-शास्त्रादृते तस्य न स्याल-लक्षण-निश्चयः,
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते।।

*

29. मसूराम्बु-पृषत्-सूची-कलाप-ध्वज-सन्निभाः।
धराप्-तेजो-मरुत्-काया नानाकारास्तरु-त्रसाः।।

(—आचार्य अमृतचन्द्र सूरि, तत्त्वार्थसार, 2/57।)

*

30. पुढवि-काइया जीवा असंखेज्जासखेज्जा, आउ-काइया जीवा असखेज्जा-संखेज्जा, तेउ-काइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाउ-काइया जीवा असखेज्जा-सखेज्जा, वणफ्फदि-काइया जीवा अणंताणंता।

(—गौतम-गणधर, प्रतिक्रमण-सूत्र, पृष्ठ 271।)

*

31. मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला,
लवणोयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च।
रौप्यं सुवर्णं वज्रं च रहितालं च हिङ्गुलम्,
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम्।।

क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः,
गोमेदो रुचकाङ्कश्च जलकान्तो रवि-प्रभः।
वैडूर्य चन्द्रकाङ्कश्च जलकान्तो रवि-प्रभ.,
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा।।
मोठा मसारगल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः,
षट्त्रिशत्-पृथिवी-भेदा, भगवद्भिर्जिनेश्वरैः।

(—आचार्य अमृतचन्द्र सूरि, तत्त्वार्थसार, 2/58-62।)

*

32 पुढवी-आऊ-तेऊ-वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा।
छत्तीस-विहा पुढवी, तिस्से भेदा इमे णेया।।
पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य,
अय तव तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे ये।
हरिदाले हिंगुलए मणोलिसा सस्सगंजण पवाले य,
अब्भ-पडलब्भबालुय बादर—काया मणिविधीया।
गोमज्झगे य रुजगे अंके फलिहे लोहिदंके य,
चदप्पभ वेरुलिए जलकते सूरकंते य।
गेरुय चदण वव्वग वयमोए तह मसारगल्ले य,
ते जाण पुढवि-जीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।

(आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 5/8/205-9)

*

33. क्वचिच्च कुग्राम-बहिश्च दूरतो, महत्स्वगाधाति-भयंकरेषुयत्।
सदैव कूपेषु जलं सुदुर्लभं, हरन्ति यंत्रैरतियत्नतो जनाः।।

(आचार्य उग्रादित्य, कल्याणकारक)

*

34. विस्तार के लिए द्रष्टव्यः आचार्य गोपीलाल अमर, 'जैनिज़्म एंड द एन्वायरनमेंटल हार्मनी', *वर्ल्ड रिलीज़न्स एंड द एन्वायरनमेंट*, नई दिल्ली (गीताजलि प्रकाशन), 1988।

*

35. नर-सुर-तिर्यङ्-नारक-योनिषु परिभ्रमति जीव-लोकोह्यम्।
कुशला स्वस्तिक-रचनेऽतीव निदर्शयति धीराणाम्।।

*

36. अन्य-वास्तु-च्युत द्रव्यमन्य-वास्तौ न योजयेत्।
प्रासादे न भवेत् पूजा गृहे च न वसेद् गृही।। *(—शिल्प—रत्नाकर, 5, 119।)*

*

37. निर्लेपस्य जिनेन्द्रस्य व्योम-मूर्तेर्-महाध्वरे,
व्योम-केशस्य दिग्-भागं कुर्महे दर्भ-गर्भितम्। *(—जिनेन्द्र-पूजा-विधान, 10।)*

*

38. यस्यार्थं क्रियते पूजा तस्य शान्तिर् भवेत् सदा,
शान्तिके पौष्टिके चैव सर्व—कार्येषु सिद्धिदा।

*

39. भव-बद्ध-शुभाशुभ-कर्म-विपाकद फलन,
विदेंतने कत्तले मने य वस्तुव तोर्प सोडर विलगिनते।
(—आचार्य श्रीधर, जातक-तिलक, (कन्नड), 4, 18।)

*

40. महा-पुराण-शास्त्रज्ञो वास्तु-विद्या-विशारद.,
एव-गुणो महा-सत्त्वः प्रतिष्ठाचार्य इष्यते।
(—आचार्य वसुनन्दी, प्रतिष्ठा-सार-सग्रह, 1, 12।)

*

41. मण्णति जदो णिच्च मणेण णिवुणा मणुक्कडा जम्हा,
मण-उब्भवा य सव्वे तम्हाते माणुसा भणिदा।
(—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, गोम्मट-सार, (जीवकाड), गाथा 141।)

*

42. सौम्य-फाल्गुन-वैशाख-माघ-श्रावण-कार्तिकाः,
मासाः स्युर्-गृह-निर्माणे पुत्रारोग्य-धन-प्रदाः।
(—श्रीटोडरमल्ल, वास्तुसौख्य, श्लोक 381, (स. आचार्य कमलाकान्त शुक्ल),
वाराणसी (सपू. संस्कृत विश्वविद्यालय), 1996।)

*

43. उदये गुरुरस्त-गृहे शशिनः सहजेपि शनौ रिपुगे च रवौ,
जलगश्-च सितो भवनस्य तदा शरदा शतमायुरुशन्ति बुधाः।
(—श्री टोडरमल्ल, वास्तुसौख्य, श्लोक 425 (पूर्वोक्त)।)

*

44. तद्रूपं तत्प्रमाणं च पूर्वसूत्रं न चालयेत्,
हीने तु जायते हानिरधिके स्वजन-क्षयः।

45. चलिते चालिते वापि दिङ्-मूढस्य नवादिषु,
तस्मात् सर्व-प्रयत्नेन पूर्व-सूत्रं न चालयेत्। *(—शिल्प—रत्नाकर, 5, 106-7।)*

*

46 अश्वत्थश्च कदम्बश्च कदली बीज-पूरक.,
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति।

*

47 अत पर प्रवक्ष्यामि गृहाण वेध-निर्णयम्।
अन्धक रुचिर चैव कुब्ज काण-वधीरकौ।।
दिग्-वक्त्र चिपिट चैव व्यग्यं च मुरज तथा।
कुटिल कुट्टक चैव सुप्ते च शखपालकम्।।
विकट कक-कैकरौ वेध. षोडशधा स्मृत.। *(– अपराजित–पृच्छा)*

*

48 अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मान-दण्डः।

*

49 पूर्वस्या श्री-गृह कार्यमाग्नेय्या तु महानसम्,
शयन दक्षिणस्या तु नैर्ऋत्यामायुधादिकम्।
भुज-क्रिया पश्चिमस्या वायव्ये धन-सग्रहम्,
उत्तरस्या जल-स्थानमैयशान्या देव-सद्गृहम्।।

*

50. प्रासाद-मस्तके मौलि-रूप. कुभो निगद्यते,
तस्मात् सल्लक्षण कुभं कारयेद् विधिवित्तमः।
(—कल्याणविजय गणी, कल्याण—कलिका, परिच्छेद 12, श्लोक 32/40।)

*

51. माला-मृगेन्द्र-कमलाम्बर-वैनतेय—मातग-गोपति-रथांग-मयूर-हसाः,
यस्य ध्वजा विजयिनो भुवने विभान्ति तस्मै नमस्-त्रिभुवन-प्रभवे जिनाय।
(—दश-भक्ति, पृष्ठ 225)

*

52. माल-हरि-कमलाम्बर-गरुडेभ-गवेश-चक्र-शिखि-हंसैः,
उपलक्षि-ध्वजानि न्यसामि दश दिक्षु पच-वर्णानि।
(—श्री नेमिचन्द्रदेव, *प्रतिष्ठा-तिलक,* पृष्ठ 129, बाहुबली (शहा विद्यामदिर), 1992।)

*

53. दृष्ट जिनेन्द्र-भवन मणि-रत्न-हेम-
सारोज्ज्वलै. कलश-चामर-दर्पणाद्यैः,
सन्मगलै. सततमष्ट-शत-प्रभेदैर्-
बिभ्राजित विमल-मौक्तिक-दाम-शोभम्।

(—आचार्य सकलचन्द्र, दृष्टाष्टक-स्तोत्र, ('ज्ञानपीठ पूजाजलि' मे प्रकाशित)।)

✳

54. पुरिसुव्व गिहस्संगं हीण अहियं न पावए सोह,
तम्हासुद्ध कीरइ जेण गिह हवइ रिद्धिकरं।

(—ठक्कुर फेरु, वत्थु-सार-पयरण, (सं. भगवानदास जैन), जयपुर (जैन विविध ग्रंथमाला, मोतीसिंह भोमिया का रास्ता), 1936।)

✳

55. पुढवी-सिलामओ वा फलअमओ तणमओय समारो,
होदि समाधि-णिमित्त उत्तर-सिर तहव पुव्व-सिरो।

(—आचार्य शिवार्य, मूलाराधना, (भगवती आराधना)।)

✳

56. इच्छामि, भते ! चेदिय-भत्ति-काउस्सग्गो कदो तस्सालोचेउदु। अह-लोय-तिरिय-लोय-उड्ढ-लोयंमि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिण-चेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसु वि लोएसु भवणवासिय-वाणवितर-जोइसिय-कप्पवासिय त्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्च-कालं अच्चति, पुज्जति, वदंति, णमस्संति। अहमवि इह संतो तत्थ सताइ णिच्च-काल अच्चेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमसामि। दुक्ख-क्खओ, कम्म-क्खओ, बोहि-लाहो, सुगदि-गमणं, समाहि-मरण, जिण-गुण-सपत्ती होदु मज्झं।

(—कृत्रिमाकृत्रिम-जिन-पूजार्घ्य दशभक्ति।)

✳

57. साल-त्रयान् सद-वन-केतु-मानस्तम्भालयान् मण्डल-मंगलाद्यान्।
गृहान् जिनानामकृतान् कृतांश्च भूतेश-कोणस्थ-दले यजामि।।

(—पडित नेमिचन्द्रदेव, प्रतिष्ठा-तिलक, 1, 9; बाहुबली (ब्र. माणिकचद, शिवलाल शहा), 1992।)

✳

58. दण्डश्-चैत्य-ध्वजाधारस्-तस्माल्-लक्षण-वेदिना,
दण्डः सुलक्षणः कार्यः समानो ग्रन्थि-पर्वभिः।

(–पं. कल्याणविजय गणी, कल्याण–कलिका, 11, 30।)

*

59. ओं, जल-स्थल-शिला-वालुका-पर्यन्तर-भूमि-शोधन-पुरस्सर-परिपूरित-शुद्ध-वालुकेष्ट-कोमल-मृत्स्नाधिष्ठिताधिष्ठाने, पंच-विध-रत्न-रमणीय-पद्मालंकारारोपित-शातकुम्भ-मय-स्तम्भ-संभृते, सतत-शैत्य-मान्द्य-सौरभ-संसक्त-मन्दानिलान्दोलित-पताका-पक्ति-विलासिते, सुवर्ण-शिखर-विन्यस्त-माणिक्य-मयूख-मालाम्बर-विरचित-श्री-विमान-विराजमाने, चतुर्-दिक्षु गोपुर-द्वार-तोरणोमय-पार्श्व-प्रदेश-विनिहित-मणि-मय-मंगल-कलशे, विविध-विमलाम्बर-विरचित-वितान-विलम्बित-मुक्ता-दामाद्यलंकृते, मुक्ति-वधू-स्वय-वर-श्री-विवाह-विभव-निवास-भासुरे, समुचित-समस्त-स-पर्याय-द्रव्य-सन्दोह-समन्वित-विपुल-तर-चैत्यायतने, जिनेन्द्र-कल्याणा-भ्युदय-महा-महोत्सवाभिरामे वास्तु-मण्डपाभ्यन्तरे पुष्पांजलिः। *(–पण्डित आशाधर, पूजा-पाठ, पृ. 151(अ)।)*

*

60 अंगुष्ठ-मात्रं बिम्बं च यः कृत्वा नित्यमर्चयेत्।
तत्-फलं न च वक्तुं हि शक्यतेसख्य-पुण्य-युक्।।

*

61. नेमिनाथो वीर-मल्लिनाथौ वैराग्य-कारकाः।
त्रयो वै मंदिरे स्थाप्या, न गृहे शुभ-दायकाः।।

(–शिल्प-स्मृति-वास्तु-विद्या, 132।)

*

62. पुर-गाम-पट्टणादी, लोइयसत्थं च लोय-ववहारो।
धम्मो वि दया-मूला विणिम्मियो आदि-बम्हेण।।

*

63. अभिषेक-प्रेक्षणिका-क्रीडन-संगीत-नाटकालोक-गृहैः,
शिल्पि-विकल्पित-कल्पन-सकल्पातीत-कल्पनैः समुपेतैः।

(–आचार्य पूज्यपाद, नन्दीश्वर-भक्ति, श्लोक 22।)

*

64. कोटि-वर्षोपवासश्च तपो वै जन्म-जन्मनि,
कोटि-दानं कोटि-दाने प्रासाद-फल-कारणे। *(–शिल्प–रत्नाकर, 13, 85।)*

*

65. अतो नित्यमहोद्युक्तैर्-निर्माप्यं सुकृतार्थिभिः
जिन-चैत्य-गृहं जीर्णमुद्धार्यं च विशेषतः।

(–पंडित आशाधर, प्रतिष्ठा-सारोद्धार, 1, 8।)

✻

66. वापी-कूप-तडागानि प्रासाद-भवनानि च,
जीर्णान्युद्धारयेद् यस्तु पुण्यमष्टगुणं भवेत्।

(–शिल्प–रत्नाकर, 5, 105।)

✻

67. नख-केश-भूषणादि शस्त्र-बस्त्राद्यलंकृतिः।
विषमा व्यंगिता नैव इषयेन्-मूर्ति-मगलम्।।
शांति-पुष्ट्यादि-कृत्यैश्च पुनः सा च समीकृता।
पुनः रथोत्सवं कृत्वा प्रतिमामर्चयेच्छुभा।।
अगोपांगैश्च प्रत्यंगैः कथंचिद् व्यंग-दूषिताम्।
विसर्जयेत् तां प्रतिमामन्यमूर्ति प्रवेशयेत्।।
याः खडिताश्च दग्धाश्च विशीर्णाः स्फुटितास्तथा।
न तासां मन्त्रसस्कारो गताश्च तत्र देवताः।।
अतीताब्द-शत यत्स्याद् यच्च स्थापितमुत्तमैः।
तद् व्यंगमपि पूज्यं स्याद् बिम्बं तन्निष्फल न हि।।

✻

68. वरिस-सयाओ उड्ढं जं बिबं उत्तमेहिं संठवियं।
विअलगु वि पूइज्जइ तं बिबं निष्फल न जओ।।
मुह-नक्क-नयण-नाही-कडि-भंगे मूल-नायगं चयह।
आहरण-वत्थ-परिगर-चिन्हायुह-भंगि पूइज्जा।।
धाउ-लेवाइ-बिम्बं विअलग पुण वि कोरए सज्ज।
कट्ठ-रयण-सेल-मयं न पुणो सज्जं च कईयावि।।

❑❑

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अग्र-मण्डप : अर्थात् मुख-मण्डप; प्रवेश-मण्डप।
अण्डक : लघु-शिखर की एक डिजाइन।
अतिभंग : जिसमें अत्यधिक वक्रता हो।
अधिष्ठान : मंदिर की गोटेदार चौकी, वेदि-बंध का पर्याय।
अनर्पित-हार : विमान की मुख्य भित्ति से पृथक् स्थित एक हार।
अंतरपत्र : दो प्रक्षिप्त गोटों के मध्य का एक अंतरित गोटा।
अंतराल : गर्भगृह और मण्डप के मध्य का भाग।
अभय . संरक्षण की सूचक एक हस्त-मुद्रा।
अर्ध-मण्डप : एक खाचेवाला स्तंभाधारित मण्डप, जो प्रायः प्रवेश-द्वार से सयुक्त होता है।
अर्पित-हार : विमान की मुख्य भित्ति से संयुक्त एक हार।
अश्व-थर : अश्वों की पंक्ति।
अष्टापद : आठ पीठिकाओं से निर्मित एक विशेष पर्वत (या उसकी अनुकृति) जिस पर ऋषभनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया।
आयाग-पट्ट : जैन मूर्तियो और प्रतीकों से अंकित शिला-पट।
आसन-पट्ट : कक्षासन या चैत्य (छज्जेदार) गवाक्ष का एक समतल गोटा।
उत्तीर (तमिल) : मुख्य धरण या कड़ी।
उद्गम . चैत्य-तोरणों की त्रि-कोणिका, जो सामान्यतः देव-कोष्ठों पर शिखर की भाँति प्रस्तुत की जाती है।
उपपीठ . दक्षिण-भारतीय अधिष्ठान के नीचे का उप-अधिष्ठान।
उपान . दक्षिण भारतीय अधिष्ठान का सबसे नीचे का भाग या पाया, जो उत्तर-भारतीय खुर से मिलता-जुलता है।
उरःशृंग : मध्यवर्ती प्रक्षेप से संयुक्त कगूरा।
कक्षासन . छज्जेदार गवाक्ष के ढालदार तकिये का मुख्य गोटा।
कट्टु (तमिल) : स्तभ के ऊपर के और नीचे के दो चतुष्कोण भागो के

मध्य का अष्टकोण भाग।

कपोत : कार्निश की तरह का नीचे की ओर झुका हुआ वह गोटा, जो सामान्यतः चौकी (अधिष्ठान या वेदि-बंध) के ऊपर होता है।

कर्ण : कोण-प्रस्तर या कोना; कोण-प्रक्षेप।

कर्ण-कूट : कर्ण या कोने के ऊपर निर्मित लघु मंदिर या कगूरा।

कर्ण-शृंग : कर्ण या कोने पर निर्मित कंगूरा।

कर्णिका : असि-धार की तरह का गोटा; पतला पट्टी-जैसा गोटा।

कलश : पुष्पकोश के आकार का गोटा, जिसका आकार घट के समान होता है। दक्षिण भारतीय स्तंभ-शीर्ष का सबसे नीचे का एक भाग।

कायोत्सर्ग : खड्गासन की तरह का वह आसन, जिसमे खड़ी हुई तीर्थंकर मूर्तियाँ होती हैं।

कीचक : ऐटलस; एक बौना व्यक्ति, जो भार को या भवन के ऊपरी भाग को धारण करता है।

कीर्तिमुख : कला मे प्रचलित एक प्रतीकात्मक डिजाइन, जिसकी बनावट सिह के शीर्ष की-सी होती है।

कुंभ : अधिष्ठान (वेदि-बध) का खुर के ऊपर का एक गोटा; दक्षिण भारतीय स्तंभ-शीर्ष का एक ऊपरी भाग।

कुंभिका : स्तभ की अलंकृत चौकी।

कूडु (तमिल) : वक्र कार्निस (कपोत) स आरंभ होनेवाला एक ऐसा प्रक्षिप्त भाग, जो तोरण के नीचे खुला होता है; अर्थात् चैत्य-गवाक्ष।

क्षिपत-वितान : नतोदर छत।

खट्वांग : एक अस्थि पर टंगा नरमुण्ड (एक भयानक देवता की वस्तु)।

खत्तक : अत्यंत अलंकृत प्रक्षिप्त आला, जो गवाक्ष से मिलता-जुलता है।

खुर : अधिष्ठान (वेदि-बंध) का सबसे नीचे का गोटा।

गजतालु : छत का एक अवयव, जो मंजूषाकार सूच्यग्र के समान होता है।

गज-थर : गजों की पक्ति।

गज-पृष्ठाकृति : गज-पृष्ठ के आकार का मंदिर; अर्ध-वृत्ताकार।

गर्भगृह : मंदिर का मूल भाग या गर्भालय।

गोपुर : मुख्य द्वार, प्रवेश-द्वार के ऊपर निर्मिति।

ग्रास-पट्टी : कीर्तिमुखों की पंक्ति।

ग्रीवा : मुख्य निर्मिति के शिखर के नीचे का भाग।

घट-पल्लव : पल्लवांकित घट की डिजाइन।

चतुर्मुख : अर्थात् चौमुख या सर्वतोभद्र; मंदिरों या मंदिर या मंदिर-अनुकृति का ऐसा प्रकार, जो चारों ओर अनावृत होता है।

चतुर्विंशति-पट्ट . एक शिला या पंक्ति या मूर्ति-पट्ट, जिस पर चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हो।

चतुष्की : खोंचा, चार स्तंभो के मध्य का स्थान, अर्थात् चौकी।

चंद्र-शिला . सबसे नीचे का अर्ध-चंद्राकार सोपान।

चैत्य-गवाक्ष . अर्थात् वह डिज़ाइन, जिसे कूडु या चैत्य-वातायन कहते हैं।

छाद्य : छदितट-प्रक्षेप।

जगती . ऐसा पीठ, जो सामान्यतः गोटेदार होता है।

जंघा : मंदिर का वह मध्यवर्ती भाग, जो अधिष्ठान से ऊपर और शिखर से नीचे होता है।

जाड्य-कुंभ . मध्यकाल के मंदिर में द्रष्टव्य पीठ (चौकी) का सबसे नीचे का गोटा।

जालक : जाली, जो सामान्यतः गवाक्ष मे या शिखर पर होती है।

तरंग : एक लहरदार डिजाइन, जो पश्चिम के एक गोटे से मिलती-जुलती है।

तरंग-पोतिका . तोड़ा-युक्त शीर्ष, जिसका गोटा घुमावदार होता है।

तल : मंदिर, विमान या गोपुर का एक खण्ड; अर्थात् भूमि। दक्षिण-भारतीय विमान मे एक, दो या तीन या इससे भी अधिक तल हो सकते हैं। सबसे नीचे का खण्ड 'आदि-तल' और मध्य का 'मध्य-तल' कहलाता है।

ताडि (तमिल) : दक्षिण-भारतीय स्तंभ के शीर्ष का एक गद्दीनुमा भाग।

तिलक : एक प्रकार की कंगूरो की डिजाइन।

तोरण : अनेक प्रकारो और डिजाइनों का अलंकृत द्वार।

त्रिक-मण्डप : तीन चतुष्कियों या खाँचो सहित ऐसा मण्डप, जिसका प्रचलन मध्यकाल मे, विशेषत: जैनमंदिरो मे था।

त्रिकूट : तीन विमान, जो एक ही अधिष्ठान पर निर्मित हो या एक ही मण्डप से सयुक्त हो।

त्रि-शाख : द्वार के तीन अलकृत पक्खो के सहित चौखट।

दण्ड-छाद्य : छत का सीधा किनारा अर्थात् छदितट-प्रक्षेप।

देवकुलिका : लघु-मदिर; भमती के सम्मुख स्थित सह-मदिर।

नंदीश्वर-द्वीप : जैन लोक-विद्या का आठवाँ महाद्वीप।

नव-रंग . वह महा-मण्डप, जिसमें चार मध्यवर्ती और बारह परिधीय स्तभों की ऐसी सयोजना होती है कि उससे नौ खाँचे बन जाते है।

नर-थर . मानव-आकृतियों की पंक्ति।

नाभिच्छद : एक प्रकार की अलकृत छत, जिसपर मजूषाकार सूच्यग्रो की डिजाइन होती है।

नाल-मण्डप : अर्थात् बलानक या आवृत सोपान-युक्त प्रवेश-द्वार।

नासिका : (शब्दार्थ 'नाक') दक्षिण-भारतीय विमान का वह खुला हुआ भाग, जो प्रक्षिप्त और तोरण-युक्त होता है; 'अल्पनासिका' या 'क्षुद्र-नासिका' उससे लघुतर और 'महानासिका' बृहत्तर होती है।

निरंधार-प्रासाद : प्रदक्षिणा-पथ से रहित मदिर।

निषद्या, निषीधिका : जैन महापुरुष का स्मारक-स्तंभ या शिला।

नृत्य-मण्डप : अर्थात् रंग-मण्डप अथवा परिस्तंभीय सभा-मण्डप।

पंच-तीर्थिका : पॉच तीर्थकर-मूर्तियो से सहित पट्ट।

पंच-मेरु : जैन परपरा के पाँच मेरुओं की अनुकृति।

पंच-रथ : पाँच प्रक्षेपों सहित मदिर।

पंच-शाखा : द्वार की पाँच अलकृत पक्खो सहित चौखट।

पंचायतन : चार लघु मंदिरों से परिवृत मदिर।

पंजर : लघु अर्ध-वृत्ताकार मदिर; अर्थात् नीड।

पट्ट : अलंकरण से रहित या सहित पट्टी।

पट्टिका : शिला-सदृश गोटा; सबसे ऊपर का एक गोटा।

पत्रलता : पत्रांकित लताओं की पंक्ति।

पत्रशाखा : प्रवेश-द्वार का वह पक्खा, जिसपर पत्रांकन होता है।

पद्म : कमलाकार गोटा या एक भाग; दक्षिण-भारतीय फलक को आधार देने के लिए बनाया जानेवाला एक कमलाकार शीर्ष-भाग।

पद्मबंध : एक अलकृत पट्टी, जो दक्षिण-भारतीय स्तंभ के मध्य-भाग और शीर्ष-भाग के मध्य मे होती है।

पद्म-शिला : छत का अत्यलकृत कमलाकार लोलक।

परिकर : मूर्ति के साथ की अन्य आकृतियाँ।

पाश : जाल या फंदा।

पीठ : चौकी या पाद-पीठ।

प्रतिरथ : भद्र और कर्ण के मध्य का प्रक्षेप।

प्रदक्षिणा : परिक्रमा।

प्रदक्षिणा-पथ : परिक्रमा-पथ।

प्रस्तार : दक्षिण भारतीय विमान का विस्तार।

प्राकार : मंदिर को परिवृत करनेवाली भित्ति।

प्राग्-ग्रीवा : मुख-मण्डप का प्रक्षेप, अर्थात् अग्र-मण्डप।

फलक : स्तंभ का शीर्ष-भाग।

फाँसना : भवन का आडे पीठो से बना वह ऊपरी भाग, जो पश्चिम-भारतीय स्थापत्य में प्रचलित है और जिसे उडीसा के स्थापत्य मे 'पीढा-देउल' कहा जाता है।

बलानक : आवृत सोपानबद्ध प्रवेश-द्वार।

बाँधना : जंघा को ऊपरी और निचले भागों में विभक्त करनेवाला एक प्रक्षिप्त गोटा।

भद्र : गर्भगृह का मध्यवर्ती प्रक्षेप।

भद्रपीठ : गोटेदार पाद–पीठ का एक दक्षिण भारतीय प्रकार।

भमती : मध्यकाल के जैन मंदिरो में द्रष्टव्य स्तंभो के मध्य का मार्ग।

भरणी : स्तंभ-शीर्ष।

भिट्ट : मंदिर का उप-अधिष्ठान।

मकर-तोरण : प्रवेश-द्वार का अलंकरण या मकर-मुखो से निकलता वंदनवार।

मंच . दक्षिण भारतीय अधिष्ठान का एक प्रकार।

मंचिका . पट्टिका के समान एक ऊपर कोटा।

मध्य-बंध : जघा, स्तभ आदि की वह पट्टी, जिसके मध्य मे उद्‌भृत पट्टी या पक्ति होती है।

मंदारक : द्वार की अलंकृत देहली।

मंडोवर : पीठ, वेदि-बध और जघा से मिलकर बने भाग का नाम, जो पश्चिम-भारतीय स्थापत्य मे प्रचलित है।

महा-मंडप मध्यकाल के मंदिर में द्रष्टव्य वह मध्यवर्ती स्तभाधारित मडप, जिसके दोनो पार्श्व अनावृत होते है।

मान-स्तंभ . चारो ओर से निराधार स्तभ, जिसके शीर्ष पर तीर्थंकर-मूर्तियाँ होती है।

मुख-चतुष्की . प्रवेश-द्वार से सयुक्त मुख-मंडप या सामने का खौंचा।

मुख-मंडप : सामने का या प्रवेश-द्वार से संयुक्त मंडप।

मूल-नायक . मुख्य स्थान पर स्थापित तीर्थंकर-मूर्ति।

मूल-प्रासाद मूल मदिर।

वरद . वर प्रदान करने की सूचक हस्त-मुद्रा।

वरंडिका . कछ गोटो से मिलकर बना वह भाग, जो जघा और शिखर के मध्य मे होता है।

वेदि-बंध . देखिए 'अधिष्ठान'।

रत्न-शाखा : प्रवेश-द्वार का हीरक-अलकरण सहित पक्खा।

रथ . मदिर का प्रक्षेप।

रंग-मंडप : स्तभाधारित मडप, जो चारो ओर अनावृत होता है।

राज-सेनक : कक्षासन या छज्जेदार गवाक्ष का सबसे नीचे का गोटा।

रूप-कंठ : आकृतियों से अलकृत एक अतरित पट्टी या पंक्ति।

रूप-शाखा : प्रवेश-द्वार का आकृतियों से अलकृत पक्खा।

ललितासन : विश्राम का एक आसन, जिसमे एक पैर मोड़कर पीठ पर रखा होता है और दूसरा पीठ से लटककर मनोज्ञ लगता है।

शदुरम् (तमिल): दक्षिण-भारतीय स्तंभ का चतुष्कोण भाग।

शाखा : द्वार की चौखट का एक पक्खा।

शाला : ढोल के आकार की छतसहित आयताकार मंदिर।

शिखर : मंदिर का ऊपरी भाग या छत; उत्तर-भारतीय शिखर सामान्यतः वक्र-रेखीय होता है, किन्तु दक्षिण भारतीय शिखर या तो गुंबदाकार होता है या अष्टकोण अथवा चतुष्कोण।

शुकनासा : उत्तर-भारतीय मंदिर के शिखर के सम्मुख-भाग से संयुक्त एक बाहर निकला भाग, जिसमें एक बड़े चैत्य-गवाक्ष की सयोजना होती है।

शुकनासिका : देखिए 'शुकनासा'।

सप्त-शाख : द्वार की सात अलकृत पक्खों सहित चौखट।

संधार-प्रसाद : प्रदक्षिणा-पथ सहित मंदिर।

सभा-मंडप : अर्थात् रंग-मंडप।

सभा-मार्ग : एक प्रकार की अलंकृत छत, जिसकी संरचना अनेक मंजूषाकार सूच्यग्रों से होती है।

समतल वितान : अवनतोन्नत तलवाली ऐसी छत, जो साधारणतः पक्तिबद्ध सूचियो से अलंकृत होती है।

समवसरण : तीर्थंकर के उपदेश के लिए देवों द्वारा निर्मित ऐसे मडप की अनुकृति; जिसमें केवलज्ञान के अनतर दिये जाने वाले तीर्थंकर के उपदेश सुनने को उपस्थित देवो, मनुष्यो और पशुओ के लिए आसन योजना-बद्ध होते हैं।

सम-चतुरस्र : बनावट सहित वर्गाकार।

सर्वतोभद्र : अर्थात् चतुर्मुख; एक प्रकार का चारों ओर सम्मुख मदिर; चारों ओर मूर्तियों से संयोजित एक प्रकार की मदिर-अनुकृति।

सर्वतोभद्रिका : चारो ओर मूर्तियों से संयोजित एक प्रकार की मंदिर-अनुकृति।

सलिलांतर . खड़ा अंतराल।

सहस्रकूट : पिरामिड के आकार की एक मंदिर-अनुकृति, जिसपर एक सहस्र (अनेक) तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं।

सिद्धासन : अर्थात् ध्यानासन में आसीन तीर्थंकर की एक मुद्रा।

संवरणा : छत, जिसके तिर्यक् रेखाओं में आयोजित भागों पर घंटिकाओं के आकार लघु शिखर होते हैं।

शाखा	: द्वार की चौखट का एक पक्खा, जो भित्ति-स्तंभ के समान होता है।
स्तूपी, स्तूपिका	. दक्षिण-भारतीय विमान का लघु शिखर।
हर्म्य	: मध्यवर्ती तल; दक्षिण भारतीय विमान का मध्यवर्ती भाग।
हार	: कूट, शाला और पंजर नामक लघु मंदिरों की पंक्ति, जो दक्षिण भारतीय विमान के प्रत्येक तल को अलंकृत करती है।

❑❑

सहायक ग्रन्थ

अरविंद वझे, **अक्षय वास्तु अरविंद**, मुंबई (अमरराज प्रकाशन) 1994।

अविनाश सोवती, **वास्तुशोभा**, पुणे (नितिन प्रकाशन) 1995।

पंडित आशाधर, **पूजा-पाठ** (स. नेमीशा आदाप्पा उपाध्ये), उदगॉव।

पण्डित आशाधर, **प्रतिष्ठा-सारोद्धार** (स. मनोहरलाल शास्त्री), मुबई (जैन ग्रथ उद्धारक कार्यालय, खत्तर लेन, हौदवाड़ी), 1917।

आचार्य उमेश शास्त्री, **वास्तु-विज्ञानम्**, जयपुर (व्यास बालाबक्ष शोध सस्थान) 1989।

आचार्य उमेश शास्त्री, **वाणिज्यवास्तु-शास्त्रम्**, जयपुर (व्यास बालाबक्ष शोध सस्थान), 1996।

आचार्य उमेश शास्त्री, **वास्तु-शृंगारदर्पणम्**, जयपुर (व्यास बालाबक्ष शोध सस्थान), 1996।

ए.आर. तारखेडकर, **वास्तुशास्त्र (भाग 1)**, धुले (कॉस्मो पब्लिशिग हाउस, इंडिया), 1996।

पडित कल्याणविजय गणी, **कल्याण-कलिका**।

डॉ. के.सी. अग्रवाल, **भारतीय वैदिक वास्तुकला**, भोपाल (भारतीय वैदिक वास्तुकला परामर्श एव अनुसधान केद्र), 1995।

डॉ० गोपीलाल अमर, **'सिद्धांत और प्रतीकार्य'; जैन कला और स्थापत्य, भाग 3;** नई दिल्ली (भारतीय ज्ञानपीठ), 1975।

गौरु तिरुपति रेड्डी (तेलुगु से अनुवाद, डॉ. बालशौरि रेड्डी), **वास्तु-संदेश**, प्रोद्दुटूर (प्रजाहित पब्लिशर्स), 1994।

प. जगदीश प्रसाद शर्मा, **भारतीय वास्तुविज्ञान**, जयपुर (विद्या भवन), 1995।

टोडरमल्ल, **वास्तुसौख्य** (सं. आचार्य कमलाकान्त शुक्ल), वाराणसी (संपू संस्कृत विश्वविद्यालय), 1996।

देवीदास पोसेट्टी अन्नलदास, **वास्तु वैभव**, शोलापुर (गायत्री पब्लिकेशन), 1994।

डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, **भारतीय स्थापत्य**, लखनऊ (हिन्दी समिति, सूचना विभाग), 1968।

डॉ. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, **समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय भवन-निवेश**, नई दिल्ली (मेहचंद लछमनदास पब्लिकेशन्स), 1994।

सूत्रधार नाथजी, **प्रासाद-मंजरी** (स. प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा), पालीताना (गोरावाड़ी, शिल्पि-निवास), 1965।

ठक्कुर फेरु, **वत्थु-सार-पयरण** (सं. भगवानदास जैन), जयपुर (जैन विविध ग्रथमाला), 1936।

ब्रजमोहन दम्माणी, **भारतीय वास्तुकला**, बीकानेर (कामेश्वर प्रकाशन), 1996।

भोजदेव, **समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्** (भवन-निवेश) (सम्पा. डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल), नई दिल्ली (मेहरचद लछमनदास पब्लिकेशन्स), 1965।

सूत्रधार मडन, **प्रासाद-मंडन** (सं. भगवानदास जैन) जयपुर (बी.एस. शर्मा,) 1961।

सूत्रधार मडन, **रूप-मंडन** (स. डॉ. बलराम श्रीवास्तव), वाराणसी (मोतीलाल बनारसीदास), 1964।

आचार्य वसुनन्दी, **वसुनन्दि-श्रावकाचार**, दिल्ली (दिगम्बर जैन मंदिर, गुलाब वाटिका), 1989-90।

विजया शर्मा, **गृहप्रकरणम्**, जयपुर (रश्मिप्रभा), 1995।

विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, **वास्तुरत्नाकर**, वाराणसी (चौखम्बा संस्कृत सीरिज),

वि.सं. 2052।

आर्यिका विशुद्धमती, **वास्तु-विज्ञान परिचय**, श्रीमहावीरजी (आचार्य श्री शिवसागर दिगंबर जैन ग्रंथमाला), 1992।

विश्वकर्मा, **दीपार्णव (जिन-दर्शन)**, (सं. प्रभाशकर ओघडभाई सोमपूरा), पालीताना (गोरावाड़ी, शिल्पि-निवास)।

सूत्रधार वीरपाल, **प्रासाद-तिलक** (सं. प्रभाशकर ओघडभाई सोमपुरा) अहमदाबाद (31, ऐलोरा पार्क, नारणपुरा, चार रास्ता), 1972।

सरला अग्रवाल, **वास्तु-दर्शन**, बीकानेर (कामेश्वर प्रकाशन), 1996।

A. Ghosh (Editor), **Jaina Art and Architecture** (3 parts), New Delhi (Bharatiya Jnanpith), 1975.

Dr. B.B. Puri, **Vedic Architecture & Art of Living**, New Delhi (Vastu Gyan Publication), 1995.

D. Muralidhar Rao, **Vasstu Shilpa Shaastra**, Bangalore (S.B.S. Publishers Distributors), 1995.

Dronam Raju Poornachandra Rao, **Sri Sai Science of Gruha-Vastu**, Hyderabad (Rajyalakshmi Publication), 1995.

Gopilal Amar **'Canons and Symbolism' in Jaina Art and Architecture, Part-III,** New Delhi (Bharatiya Jnanpith), 1975.

Gouru Tirupati Reddy, **The Secret World of Vassthu**, Proddatur-516361 (Prajahita Publishers), 1994.

Er. K.A. Natesa, **Vasstu Shastra : Science and Technology**, Salem (Gomathi & Co.), 1995.

Ar. K.V. Rao, **Science in Vasstu Applictions**, Bangalore (The World Academy of Vasstu Education and Science), 1995.

Malcolm Barbur, **The New Knighthood: A History of the order of the Temple**, New York (Cambridge University Press), 1994.

Dr. U.P. Shah & M.A. Dhaky (Editors), **Aspects of Jaina Art and Architecture**, Ahmedabad (L.D. Institute), 1995.

❑❑